मास्टर ऑफ आर्ट्स (संस्कृत)

Master of Arts (Sanskrit)

चतुर्थ सेमेस्टर - एम0ए0एस0एल - 606

काव्यशास्त्र-भाग-02

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी-263139

Toll Free : 1800 180 4025
Operator : 05946-286000
Admissions : 05946-286002
Book Distribution Unit : 05946-286001
Exam Section : 05946-286022
Fax : 05946-264232
Website : http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम समिति

कुलपति (अध्यक्ष)
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
प्रोफे0 ब्रजेश कुमार पाण्डेय,
संस्कृत एवं प्राच्य विद्या अध्ययन संस्थान,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
प्रोफे0 रमाकान्त पाण्डेय,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान जयपुर परिसर, राजस्थान
प्रोफे0 कौस्तुभानन्द पाण्डेय,
संस्कृत विभाग, अल्मोड़ा परिसर,
कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल

प्रो0 एच0 पी0 शुक्ल-(संयोजक)
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 देवेश कुमार मिश्र,
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ0 नीरज कुमार जोशी,
असिस्टेन्ट प्रोफेसर-ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

पाठ्यक्रम समन्वयक एवं सम्पादन

डॉ0 नीरज कुमार जोशी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर-ए.सी.,संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	खण्ड एवं इकाई संख्या
डॉ0 देवेश कुमार मिश्र सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय खण्ड

प्रकाशक: (उ0 मु0 वि0, हल्द्वानी) -263139
पुस्तक का शीर्षक - काव्यशास्त्र-भाग-02
कॉपीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
ISBN No. 978-93-84632-25-0

प्रकाशन वर्ष : **2022**
मुद्रक:

नोट:- यह पुस्तक छात्र हित में शीघ्रता के कारण तदर्थ प्रकाशित की गयी है। संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण का प्रकाशन पाठ्यक्रम के पूर्ण लेखन व सम्पादन के पश्चात् किया जायेगा। इसका उपयोग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना अन्यत्र किसी भी रूप में नहीं किया जा सकता।

अनुक्रम

खण्ड - 01 काव्यलक्षण प्रयोजन काव्य हेतु पृष्ठ संख्या 1-4

इकाई-01 प्रमुख काव्य लक्षणों की व्याख्या 5-18

इकाई-02 मम्मट का काव्य प्रयोजन 19-28

इकाई-03 काव्य हेतु 29-36

खण्ड - 02 रस एवं अलंकार पृष्ठ संख्या 37

इकाई-01 रसोत्पत्तिवाद विभिन्न मत 38-53

इकाई-02 रस भेद उदाहरण सहित व्याख्या 54-70

इकाई-03 अलंकार लक्षण क्रमिक विकास 71-77

इकाई-05 शब्दालंकार भेद सहित वर्णन 78-92

इकाई-06 प्रमुख अर्थालंकार-उपमा अनन्वय, उत्प्रेक्षा, रूपक अपह्नुति आदि लक्षणोंदाहरण वर्णन 93-102

खण्ड - 03 काव्यशास्त्र की ऐतिहासिक परम्परा पृष्ठ संख्या 103

इकाई-01 ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत 104-113

इकाई-02 काव्यप्रकाश प्रथम और द्वितीय उल्लास 114-128

इकाई-03 वक्रोक्तिजीवितम प्रथम उन्मेष- साहित्य स्वरूप विवेचन पर्यन्त 129-139

इकाई-04 साहित्यदर्पण दशम परिच्छेद- उपमा, रूपक, भ्रांतिमान, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, प्रतिप, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, विभावना, विशेषोक्ति, तद्गुण, अतद्गुण, संकर, संसृष्टि, पर्याय 140-154

चतुर्थ सेमेस्टर/SEMESTER-IV
खण्ड – 01
काव्यलक्षण प्रयोजन काव्य हेतु

इकाई 1. प्रमुख काव्य लक्षणों की व्याख्या

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 प्रमुख काव्य लक्षण
1.4 सारांश
1.5 शब्दावली
1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ
1.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

संस्कृत साहित्य में वैदिक साहित्य से लेकर लौकिक साहित्य तक काव्यशास्त्र के तत्वों का अध्ययन और विश्लेषण होता चला आ रहा है। वेद में भी कविता के बीज पाए जाते हैं, अलंकारों के उदाहरण ढूंढ कर आचार्यों ने वेद में भी काव्यशास्त्र के तत्वों को खोज कर निकाला है। काव्य के लक्षण के विषय में भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ के पश्चात् भी आधुनिक काव्य शास्त्रियों ने विधिवत चिंतन किया है। लक्षण करने की परम्परा संस्कृत काव्यशास्त्र में बहुत पुरानी है।

इसके बाद की इकाई में आप काव्य के प्रयोजन का अध्ययन करेंगे । उसके पहले जिस काव्य के प्रयोजन का अध्ययन कराना इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य है उस काव्य की क्या परिभाषा है क्या लक्षण है, इसका अध्ययन आप इस इकाई में करेंगे । लक्षण के विषय में संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अपने- अपने मतों को किस प्रकार ग्रंथों में बताया है । इन सभी तथ्यों का अध्ययन आप इस इकाई में करने जा रहे हैं। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर का निर्माण अनेक प्रकार के अंगों से होता है । उसी प्रकार काव्य के शरीर की कल्पना भी संस्कृत काव्यशास्त्र में की गई है। साथ ही जिस काव्य के शरीर के निर्माण के विषय में चिंतन करके आचार्यों ने परिभाषाएं दी है, उस काव्य की आत्मा के विषय में भी अनेक आचार्यों ने विचार किया है। परिणाम स्वरूप संस्कृत काव्यशास्त्र में 6 संप्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है।

प्रमुख काव्य लक्षण ही इस इकाई का उद्देश्य है। काव्य के लक्षण के विषय में अनेक आचार्यों ने जो विचार किए हैं उनमें कुछ प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के लक्षणों का समीक्षात्मक वर्णन प्रस्तुति इकाई में आप के अध्ययन के लिए रखा गया है। इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के लक्षणों की व्याख्या करने में सक्षम हो सकेंगे ।

1.2 उद्देश्य

प्रमुख काव्य लक्षणों की व्याख्या से सम्बन्धी इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात आप:

- ❖ काव्य के शरीर के निर्माण में कितने तत्वों की आवश्यकता होती है, इस तथ्य को समझा सकेंगे ।
- ❖ जिस प्रकार मनुष्य के शरीर का निर्माण होता है ,उसी प्रकार आचार्यों की दृष्टि में काव्य की भी शरीर का निर्माण होता है ,इस ज्ञान से परिचित होकर इसकी व्याख्या कर सकेंगे।
- ❖ शब्दार्थ के साथ भाव से कविता का शरीर निर्मित होता है, इसे बता सकेंगे ।
- ❖ वर्ण संघटना काव्य के शरीर के निर्माण में सहायक होती है। इससे भलीभांति परिचित हो सकेंगे ।
- ❖ भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित लक्षण को बता सकेंगे ।
- ❖ अग्नि पुराण तथा आचार्य भामह के ग्रंथ में प्रतिपादित काव्य के लक्षण का उल्लेख कर सकेंगे ।
- ❖ आचार्य मम्मट से लेकर अन्य प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के लक्षण की समीक्षा कर सकेंगे ।

1.3 काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य लक्षण की व्याख्या

काव्य-लक्षण को प्रस्तुत करनेमें आचार्य मम्मट ने जो प्रयत्न किया है वह श्लाघनीय है। आचार्य मम्मट शब्द एवं अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य मानते है। केवल शब्द अथवा केवल अर्थ इनमें से कोई भी काव्य नहीं है। मम्मट का काव्य-लक्षण है- **''तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।'' 'शब्दार्थौ तत्'** अर्थात् **'शब्दार्थौ काव्यम्'**। 'तत्' यह सर्वनाम पद पिछली **'काव्यं यशसे'** इत्यादि कारिका में प्रस्तुत हुए काव्य-पद का परामर्शक है। शब्दार्थौ में द्वन्द्व समास है, शब्द और अर्थ दोनों प्रधान हैं। चमत्कारी अर्थ की अभिव्यंजना दोनों समान रूप से करते हैं। अतः **'शब्दार्थौ तत्'** इसका अर्थ हुआ कि शब्द तथा अर्थ, ये दोनों मिलकर काव्यपदवाच्य होते हैं। 'शब्दार्थौ' इस द्विवचनान्त पद के तीन विशेषण पद उपर्युक्त लक्षण में प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य मम्मट ने बताया कि कैसे हैं वे शब्द और अर्थ तो अदोषौ, सगुणौ सालंकारौ एवं अनलंकृती पुनः क्वापि। अर्थात् वे शब्द तथा अर्थ दोनों दोष रहित हो, दूसरी बात यह कि वे दोनों माधुर्य आदि काव्य-गुणों से युक्त हों, और तीसरी बात यह है कि प्रायः वे अलंकार सहित हों, किन्तु जहाँ कहीं रसादि की प्रतीति हो रही हो वहाँ उनके अलंकारविहीन होने पर भी काम चल सकता है। इस प्रकार इन तीन विशेषणों से युक्त शब्द तथा अर्थ की समष्टि का नाम काव्य है, यह ग्रन्थकार मम्मट का अभिप्राय है। यद्यपि आचार्य मम्मट के उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने इस लक्षण का दोष-दिखाकर अक्षरशः खण्डन किया है, किन्तु यथार्थ दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो यह उतना दूषित लक्षण नहीं है, जितना विरोधी आचार्यों ने उसको दूषित करने का प्रयत्न किया है। आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण के गुण-दोष की मीमांसा करने से पूर्व उनके लक्षण को भली भांति समझ लेना चाहिए । इस प्रकार दोषों से रहित, माधुर्यादि काव्य-गुणों से युक्त और साधारणतः अलंकार सहित किन्तु कहीं-कहीं अलंकार-रहित शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि को काव्य कहते है। अब दोष, गुण, अलंकार किसे कहते हैं? तो इन सबकी चर्चा आगे क्रमशः सातवें, आठवें, नवें, दसवें उल्लास में विस्तारपूर्वक की जायेगी। **'अनलङ्कृती पुनः क्वापि'** इस वाक्यांश में प्रयुक्त 'क्वापि' इस पद से ग्रन्थकार आचार्य मम्मट कहते हैं कि साधारणतः सब जगह अलंकारसहित शब्द एवं अर्थ होने चाहिए किन्तु जहाँ कहीं व्यङ्ग्य या रसादि की स्थिति विद्यमान हो वहाँ स्पष्ट रूप से अलंकार की सत्ता न होने पर भी काव्यत्व धर्म की हानि नहीं होती है। जैसे-

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते
चोन्मीलित-मालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरूतले चेतः समुत्कण्ठते।।

पतिदेव ने विवाह के बाद मेरे कौमार्य को भंग किया था, मेरे कौमार्य का हरण करने वाले वे ही पतिदेव हैं, और आज फिर वे ही चैत्र मास की उज्ज्वल चांदनी से भरी हुई रात्रियाँ हैं। और वसन्त में खिलने वाले धूलि-कदम्बों की अत्यन्त कामोत्तेजक वायु बह रही है और मैं भी वही हूँ। अभिप्राय यह है कि चिर उपयुक्त होने से उसमें उत्कण्ठा होने का कोई अवसर नहीं है, फिर भी न जाने क्यों आज वहाँ नर्मदा के तट पर उस बेत के पेड़ के नीचे (जहाँ अनेक बार अपने

पतिदेव के साथ सम्भोग कर चुकी हूँ) सम्भोग की उन काम-क्रीडाओं के लिए पुनः-पुनः चित्त उत्कण्ठित हो रहा है।

उपर्युक्त पद्य में कोई स्फुट रूप (स्पष्टतया) अलंकार नहीं है और रस के प्रधान होने से रसवदलंकार के रूप में उसको भी अलंकार नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वह रसवदलंकार रसके गौण होने पर ही होता है किन्तु यहाँ रस की प्रधानता है। यद्यपि इस पद्य में विभावना या विशेषोक्ति या दोनों का संदेह संकर अलंकार निकाला जा सकता है, परन्तु ये अलंकार अभावमुखेन निकलते हैं इसलिए स्फुट नहीं हैं।काव्यप्रकाशकार का यह लक्षण **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'** अन्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य कुन्तक ने जिस बात को कई कारिकाओं में कहा है, मम्मट ने इसे आधी कारिका में ही समाविष्ट कर दिया है। उसके साथ ही **'अदोषौ'** तथा 'सगुणौ' पद जोड़कर उन्होंने काव्य-लक्षण का नवीन दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है, जिसका प्राचीन काव्य-लक्षणों में इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। आचार्य मम्मट गुण तथा दोष के प्रश्न को भी सामने लाते हैं, शरीर के संस्कार में भी पहले दोषापनयनरूप संस्कार करने के बाद ही गुणाधानरूप संस्कार किया जाता है, तब इसके बाद अलंकार आदि का क्रम आता है। वह अगर न भी हो तो भी दोषापनयनरूप तथा गुणधानरूप संस्कार तो अपरिहार्य हैं। इसके बिना काम नहीं चलता। इसीलिए मम्मट ने काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' विशेषणों द्वारा इस द्विविध संस्कार की अपरिहार्यता का प्रतिपादन किया है और '**अनलङ्कृती पुनः क्वापि**' लिखकर अलंकार की गौणता को सूचित किया है। इस प्रकार अल्प शब्दों में भाव-गाम्भीर्य के द्वारा मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण को अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय बना दिया है।

अन्ततः निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि मम्मट का काव्यलक्षण सामाजिक तथा कवि दोनों दृष्टि से पूर्ण है, कृति और अनुभूति दोनों से सम्बन्ध रखने वाला है। इसमें प्राचीन मतों का समन्वित रूप है। अलंकारवादी, रीतिवादी, वक्रोक्तिवादी, ध्वनिवादी सभी सम्प्रदायों के काव्य-लक्षण इसमें आ मिलते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणम् के **'निर्दोषं गुणवत्'** आदि काव्यस्वरूप के साथ इसका अत्यधिक साम्य है। साहित्यदर्पणकार एवं पण्डितराज जगन्नाथ ने इसकी कटु आलोचना अवश्य की है किन्तु वे इससे अधिक व्यापक और सर्वग्राह्य काव्य-लक्षण न दे सके। वस्तुतः तो काव्य का स्वरूप अलौकिक है, काव्य तो लोकोत्तरवर्णनानिपुण कविकर्म है। यद्यपि उत्तरवर्ती विश्वनाथ आदि ने उनके लक्षण का खण्डन किया है, परन्तु वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो वह उतना दूषित लक्षण नहीं है ,जितना विरोधियों ने उसको चित्रित करने का प्रयत्न किया है। उनके काव्य-लक्ष्ण के गुण-दोष की मीमांसा करने से पहिले उनके लक्षणों को भली प्रकार समझ लेना चाहिये अन्यथा उसकी समालोचना और मीमांसा समझ में नहीं आ सकेगी।

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। दोषगुणालंकारा वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। -

'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते

अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः। रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता।

इस प्रकार (काव्य) के साधन बतलाकर उसके स्वरूप को कहते हैं - दोषों से रहित, गुण-युक्त और (साधारणतः अलङ्कार सहित परन्तु) कहीं-कहीं अलङ्कार-रहित शब्द और अर्थ (दोनों की समष्टि) काव्य कहलाती है।

दोष, गुण और अलङ्कार (किसको कहते हैं यह बात) आगे कहेंगे। **('अनलंकृती पुनः क्वापि'** इस वाक्यांश में प्रयुक्त) 'क्वापि' इस पद से (ग्रन्थकार) यह कहते हैं कि (साधारणतः) सब जगह अलङ्कार सहित (शब्द तथा अर्थ होने चाहिये) परन्तु कहीं (जहाँ व्यङ्गय या रसादि की स्थिति विद्यमान हो वहाँ) स्पष्ट रूप से अलङ्कार की सत्ता न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। जैसे दिये गयेउदाहरण में - कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है और रस के प्रधान होने से (रसवदलङ्कार के रूप में) उसको भी अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है। (क्योंकि वह रसवदलङ्कार रस के गौण होने पर ही होता है।) इस उदाहरण की विश्वनाथ द्वारा की गयी आलोचना इस प्रकार है -

यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है इस कथन का अभिप्राय यह है कि वैसे चाहें तो यहाँ अलङ्कार निकाला जा सकता है; जैसे कि साहित्य पर्दणकार विश्वनाथ ने इसमें 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' अलङ्कार निकालने का प्रयत्न किया है। 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' ये दोनों अलङ्कार परस्पर विरोधी रूप हैं।

विभावना तु विना हेतुं कायोत्पत्तिर्यदुच्यते।
सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिस्ततो द्विधा।

जहाँ बिना कारण के कार्य का वर्णन किया जाय वहाँ 'विभावना' अलङ्कार होता है। इसके विपरीत जहाँ कारण होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो वहाँ 'विशेषोक्ति' नामक दूसरा अलङ्कार होता है। साहित्य दर्पणकार का कहना यह है कि यहाँ उत्कण्ठा रूप कार्य का वर्णन किया गया है परन्तु उसका कारण विद्यमान नहीं है। उत्कण्ठा सदा किसी नयी चीज की प्राप्ति के लिए होती है। यहाँ कोई भी नयी चीज नहीं, सभी वस्तुएँ पहिले सैकड़ों बार की भोगी हुई हैं। इसी प्रकार यदि इसको उलट दिया जाय तो यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार निकल सकता है। यहाँ सब ही वस्तुएँ उपभुक्त-चर हैं इसलिए उत्कण्ठा नहीं होनी चाहिये। अर्थात् उत्कण्ठा के अभाव की सारी सामग्री विद्यमान हैं परन्तु उत्कण्ठा का अभाव रूप कार्य नहीं है, उत्कण्ठा हो रही है। इस प्रकार उत्कण्ठा भाव का कारण रहते हुए भी उत्कण्ठा भाव कार्य के न होने से से यहाँ 'विशेषोक्ति' अलङ्कार भी पाया जाता है।

इस प्रकार साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने इस श्लोक में 'विभावना' तथा 'विशेषोक्ति' दो अलङ्कारों की कल्पना कर के और उनके सन्देह-सङ्कर अलङ्कार की स्थिति सिद्ध करके मम्मट द्वारा 'अनलंकृती पुनः क्वापि' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये गये इस श्लोक में अलङ्कार के अभाव का खण्डन किया है। परन्तु विश्वनाथ ने अत्यन्त संरम्भ के साथ विभावना-विशेषोक्ति-मूलक सन्देह-सङ्कर अलङ्कार को यहाँ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह मम्मटाचार्य की दृष्टि से ओझल नहीं था। वे भी जानते थे कि यहाँ इस प्रकार से 'विभावना' या 'विशेषोक्ति' या दोनों का सन्देह-सङ्कर अलङ्कार निकाला जा सकता है। परन्तु ये अलङ्कार भाव-मुखेन नहीं, अभाव-मुखेन निकलते हैं इसलिए वे स्पष्ट नहीं अपितु खींचतान कर ही निकाले जा सकते हैं। इसीलिए तो मम्मट ने उसे 'स्फुटालङ्कार-विरह' के उदाहरण रूप

में प्रस्तुत किया है। अतएव विश्वनाथ ने जो इस उदाहरण का खण्डन किया है वह युक्तिसङ्गत नहीं है।

विश्वनाथ की भावना—

उनकी दृष्टि में 'काव्यप्रकाश' के इस काव्य-लक्षण में 'पदसंख्यातोऽपि भूयसी दोषाणां संख्या' जितने पद प्रयुक्त हुए हैं उनसे भी अधिक दोष उसमें है। 'साहित्यदर्पण' में पढ़ने से तो ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ की दृष्टि में मम्मट महामूर्खआदमी हैं, वह साहित्य शास्त्र की बारहखड़ी भी नहीं जानते हैं। उन्होंने अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन का यही एकमात्र उपाय समझा है कि 'काव्यप्रकाश' का हर बात में खण्डन किया जाय। कदाचित् इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्यदर्पण' रखा है। 'दर्पण' का कार्य 'प्रकाश' का प्रतिक्षेप करना ही है। दर्पण को यदि सूर्य के सामने दिखाया जाय तो उस पर जो सूर्य की किरणें पड़ेंगी, वे वहाँ से प्रतिक्षिप्त होकर सामने खड़े हुए व्यक्ति की आँखों में भीषण चकाचौंध उत्पन्न कर देंगी। इस प्रकार साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ के अपने 'दर्पण' द्वारा काव्यप्रकाशकार मम्मट के 'प्रकाश' का प्रतिक्षेप कर साहित्य के विद्यार्थियों की दृष्टि में चकाचौंध उत्पन्न कर दी है। जिनके कारण विद्यार्थी उस समय अन्धा-सा हो जाता है और 'काव्यप्रकाश' में उसे कुछ भी तत्त्व नहीं दिखायी देता।

'अदोषौ' पद की आलोचना—

काव्यप्रकाशकार ने अपने लक्षण में 'शब्दार्थौ' के जो तीन विशेषण 'अदोषौ', 'सगुणौ' और 'अनलंकृती पुनः क्वापि' दिये हैं उन तीनों का ही विश्वनाथ ने बुरी तरह खण्डन किया है। उनकी युक्तियों का सार यह है कि यदि दोषरहित शब्दार्थ को ही काव्य माना जाय तो इस प्रकार का नितान्त दोषरहित काव्य संसार में मिल सकना ही कठिन है। इसलिए 'एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्' अर्थात् ऐसी दशा में काव्य या तो संसार में मिलेगा ही नहीं और यदि भूले-भटके कहीं मिल भी गया तो बहुत कम मिल सकेगा। इसके अतिरिक्त आगे चलकर **'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः'** इत्यादि जिस श्लोक को ध्वनि प्रधान होने से उत्तम काव्य माना गया है उसमें भी 'विधेयाविमर्श' दोष के विद्यमान होने से उसको उत्तम काव्य क्या, काव्य भी नहीं कहा जा सकेगा और यदि यह कहा जाय कि दोष तो उस श्लोक के थोड़े-से ही अंश में है तो -**'यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा मिकपि न स्यात्।'**

जिस अंश में दोष है वह अकाव्यत्व का प्रयोजक होगा और जिस अंश में ध्वनि है वह उत्तम काव्यत्व का प्रयोजक होगा। इस प्रकार दोनों अंशों की इस छीना-झपटी में वह काव्य या अकाव्य कुछ भी सिद्ध नहीं होगा।

इस प्रकार साहित्य दर्पणकार ने 'अदोषौ' पद के लक्षण में रखे जाने का खण्डन किया है। परन्तु काव्यप्रकाशकार का 'अदोषौ' पद के रखने का अभिप्राय यह है कि काव्यत्व के विघटक जो 'च्युतसंस्कार' आदि प्रबल दोष हैं उनसे रहित शब्द तथा अर्थ काव्य है। कोई भी दोष स्वरूपतः दोष नहीं होता, अपितु जब वह रसानुभूति में बाधक होता है तभी दोष कहा जाता है। जैसे 'दुःश्रवत्व' दोष करुण, शृंगार आदि कोमल रसों की अनुभूति में बाधक होता है इसलिए वहाँ उसे दोष कहा जाता है। परन्तु वीर, वीभत्स या भयानक रस में वह 'दुःश्रवत्व' रसानुभूति का बाधक नहीं, अपितु साधक हो जाता है इसलिए वहाँ दोष नहीं, अपितु गुण कहा जाता है। इसलिए जो दोष प्रबल होने के कारण रसानुभूति में बाधक हों उन प्रबल दोषों से रहित शब्द तथा

अर्थ काव्य हैं। यह काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय है। अतः साधारण स्थिति के दुर्बल दोष के विद्यमान होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। स्वयं साहित्य दर्पणकार ने भी साधारण दोषों के रहते हुए भी काव्य में काव्यत्व स्वीकार किया है।

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः।।

जैसे कीड़ों से खाया हुआ प्रवाल आदि रत्न रत्न ही कहलाता है । उसी प्रकार जिस काव्य में रसादि की अनुभूति स्पष्ट रूप से होती रहती है वहाँ दोष के होते हुए भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।

इस सिद्धान्त को साहित्यदर्पणकार भी स्वीकार करते हैं और काव्यप्रकाशकार ने जो अपने काव्य-लक्षण में **'अदोषौ'** पद का समावेश किया है वह भी इसी अभिप्राय से किया है कि रसानुभूति के बाधक प्रबल दोषों से रहित शब्द तथा अर्थ की समष्टि काव्य कहलाती है अर्थात् जहाँ साधारण दोष के होते हुए भी रसानुभूति में बाधा नहीं होती वह दोष-युक्त काव्य भी काव्य ही है। ऐसी दशा में काव्य **'प्रविरलविषय' या 'निर्विषय'** कुछ भी नहीं होता है, और न **'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः'** इत्यादि में साधारण 'विधेयाविमर्श' दोष के होने से अकाव्यत्व होता है। इसलिए विश्वनाथ ने इसके खण्डन में जो कुछ लिखा है उसका 'पाण्डित्य-प्रदर्शन' के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं है।

'संगुणौ' पद की आलोचना—

इसी प्रकार लक्षण में दिये हुए 'सगुणौ' पद का भी विश्वनाथ ने खण्डन किया है। उनका कहना है कि गुण तो रस के धर्म होते हैं, उस में रहते हैं। वे शब्द या अर्थ के धर्म नहीं होते हैं इसलिए शब्द या अर्थ में नहीं रह सकते हैं। ऐसी दशा में रस ही 'सगुण' कहा जा सकता है, शब्द या अर्थ को 'सगुण' नहीं कहा जा सकता। इसलिए काव्यप्रकाशकार ने जो 'सगुणौ' पद को 'शब्दार्थौ' के विशेषण रूप में प्रयुक्त किया है वह भी उचित नहीं किया है।

विश्वनाथ तो ऐसा समझ रहे हैं कि मम्मटाचार्य मानो कोई बिलकुल साधारण विद्यार्थी हों जिनको इस बात का भी बाध नहीं है कि गुण शब्द या अर्थ के धर्म नहीं हैं। पर ऐसी बात नहीं है। काव्यप्रकाशकार भी जानते हैं कि गुण रस के धर्म होते हैं। फिर भी गौण रूप से शब्द और अर्थ के साथ भी उनका सम्बन्ध हो सकता है। अष्टम उल्लास में 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' लिखकर मम्मटाचार्य ने गौणीवृत्ति से शब्द तथा अर्थ के साथ भी गुणों के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है और उसी दृष्टि से यहाँ 'शब्दार्थौ' के विशेषण रूप में 'सगुणौ' पद का प्रयोग किया गया है। इसलिए विश्वनाथ ने अपना पाण्डित्य-प्रदर्शन करने के लिए काव्यप्रकाशकार पर जो यह पङ्कप्रक्षेप किया है वह सब केवल उनका अकाण्ड-ताण्डव मात्र है।

पण्डितराज जगन्नाथ कृत आलोचना—

'काव्यप्रकाश' के इस काव्य लक्षण पर न केवल विश्वनाथ ने, अपितु रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कुछ आपत्ति उठायी है। परन्तु उनका दृष्टिकोण विश्वनाथ से बिलकुल भिन्न है। विश्वनाथ ने लक्षण के केवल विशेषण भाग का खण्डन किया है, विशेष्य-भाग अर्थात् 'शब्दार्थौ' पद पर कोई आक्षेप नहीं किया है। इसके विपरीत पण्डितराज जगन्नाथ ने लक्षण के केवल विशेष्यांश 'शब्दार्थौ' पद पर आपत्ति उठायी है, विशेषण भूत 'अदोषौ', 'सगुणौ' आदि पदों पर कोई आक्षेप नहीं किया है। 'शब्दार्थौ' पद पर पण्डितराज को यह आपत्ति है कि

काव्यत्व शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि में नहीं रहता है और न दोनों की व्यष्टि में अलग-अलग काव्यत्व रहता है। अपितु केवल शब्द में ही काव्यत्व रहता है। उन्होंने लिखा है -

नाद्यः, एको न द्वौ इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्येन काव्यमिति व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः,एकस्मिन् पद्येकाव्यद्वयव्यवहारापत्तेः। तस्माद्वेदशास्त्र पुराण लक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापिशब्द निष्ठतैवोचिता।'

अर्थात् जो काव्यप्रकाशकार आदि प्राचीन आचार्य शब्द और अर्थ दोनों को काव्य कहते हैं उसके विषय में यह विचार करना है कि वह काव्यत्व शब्द तथा अर्थ दोनों में 'व्यासज्य-वृत्ति' अर्थात् दोनों में मिलकर रहने वाला धर्म है अथवा 'प्रत्येक-पर्याप्त' अर्थात् एक-एक में अलग भी रह सकता है। इनमें से पहिला अर्थात् 'व्यासज्य-वृत्ति' वाला पक्ष नहीं बन सकता है; क्योंकि उस दशा में 'एको न द्वौ' इस व्यवहार के समान यह श्लोक-वाक्य तो है परन्तु काव्य नहीं है। इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा। जैसे दो पदार्थों में रहने वाली द्वित्व-संख्या दोनों में मिलकर ही रहती है, अलग-अलग नहीं। इसलिए द्वित्व-संख्या उन दोनों पदार्थों का व्यासज्य-वृत्ति धर्म है। जब दोनों पदार्थ उपस्थित होते हैं तभी 'द्वौ'-'ये दो हैं' इस प्रकार का व्यवहार होता है और जब उनमें से एक ही पदार्थ उपस्थित होता है उस समय 'यह दो नहीं, एक है' इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसी प्रकार 'यह श्लोक-वाक्य है, काव्य नहीं' यह व्यवहार होने लगेगा। इसलिए काव्यत्व को 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार काव्यत्व को 'प्रत्येक-पर्याप्त' अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनों में अलग-अलग रहने वाला धर्म भी नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि उस दशा में एक ही श्लोक-वाक्य में शब्द और अर्थ दोनों की दृष्टि से दुहरा काव्यत्व आ जायेगा। इसलिए एक पद्य में दो काव्यों का व्यवहार होने लगेगा। इसलिए शब्द तथा अर्थ में न 'व्यासज्य-वृत्ति' काव्यत्व बनता है, न 'प्रत्येक-पर्याप्त'। फलतः काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है। यह पण्डितराज जगन्नाथ का सिद्धान्त है। इसीलिए उन्होंने – **'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** इस प्रकार काव्य का लक्षण किया है।

नागेश भट्ट कृत पण्डितराज की प्रत्यालोचना—

परन्तु उनका यह खण्डन उनके ही टीकाकार नागेश भट्ट को उचित प्रतीत नहीं हुआ। इसलिए 'रसगङ्गाधर' की इसी स्थल की टीका में 'नोचिता' इस प्रतीक को लेकर उन्होंने लिखा है -

''अस्वादव्य´जकत्वस्योभयत्राप्यविशेषात् चमत्कारिबोधजनकज्ञान विषयतावच्छेदकधर्मत्व रूपस्यानुप-सनीयकाव्यलक्षणस्य प्रकाशाद्युक्त लक्ष्यता वच्छेदकस्योभयवृत्तिवाच्च काव्यं पठित्, काव्यं श्रुतम्, काव्यं बुद्धमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति। अत एव वेदत्वादेरुभयवृत्तित्वप्रतिपादकः 'तदधीते तद्वेद' 5, 2, 59 इति सूत्रस्थो भगवान् पतंजलिः सङ्गच्छते।लक्षणयान्यतरस्मिन्नपि तत्त्वात् 'एको न द्वौ' इतिवत् न तदापत्तिः। तेनानुपहसनीयकाव्यलक्षण प्रकाशोक्तं निर्बाधम्।''

इसका अभिप्राय यह है कि काव्यत्व का प्रयोजक जो 'रसास्वादव्य´व्यंजकत्व' है ,वह शब्द तथा अर्थ दोनों में समान रूप से सहता है।काव्य को पढ़ा, काव्य को सुना और काव्य को समझा इस प्रकार का व्यवहार भी दिखलायी देता है, इससे शब्द तथा अर्थ दोनों की काव्यता प्रतीत होती है,केवल शब्द या केवल अर्थ की नहीं और काव्यप्रकाशोक्त अनुपहसनीयं काव्य

का नियामक चमत्कारिबोधजनकज्ञानविषयत्वावच्छेदकधर्मत्व' रूप काव्य-लक्षण शब्द तथा अर्थ दोनों में रहता है, एक में नहीं। इसलिए काव्यत्व को 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसी दशा में, अर्थात् काव्यत्व को व्यासज्य-वृत्ति धर्म मानने पर ही, 'तदधीते तद्वेद' इस पाणिनि-सूत्र के 'महाभाष्य' में भाष्यकार पतंजलि मुनि ने वेदत्व आदि को जो व्यासज्य-वृत्ति धर्म माना है उसकी सङ्गति लगती है। इस प्रकार काव्यत्व मुख्य रूप से 'व्यासज्य-वृत्ति' धर्म है परन्तु लक्षणा से केवल शब्द अथवा केवल अर्थ में भी काव्यत्व माना जा सकता है। इसलिए 'एको न द्वौ' के समान 'श्लोकवाक्यं न काव्यम्' इस प्रकार के व्यवहार का कोई अवसर नहीं आता है। फलतः 'काव्यप्रकाश' के अनुसार शब्द तथा अर्थ दोनों को काव्य मानने में कोई बाधा नहीं है। यह 'रसगङ्गाधर' के टीकाकार नागेश भट्ट का अभिप्राय है।न केवल नागेश, अपितु पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़कर प्रायः सभी आचार्यों ने शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य माना है। इस विषय में विभिन्न आचार्यों के निम्नलिखित लक्षण यहाँ दिए जा रहे हैं -

1. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा (भामह 1, 16)

2. काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते (वामन 1, 1)

3. शब्दार्थौ काव्यम् (रुद्रट-काव्यालङ्कार 2, 1)

4. अदोषो सगुणौ सालङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम् (हेमचन्द्र पृ0 16)

5. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालङ्कारौ च काव्यम् (वांग्भट पृ0 14)

6. गुणालङ्कारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ (विद्यानाथ-प्रतापरुद्र पृ0 42)

7. शब्दार्थौ वपुरस्य तत्र विवुधैरात्माभ्यधायि ध्वनिः(विद्याधर-एकावली पृ01, 13)

इस प्रकार शब्द तथा अर्थ दोनों में काव्यत्व मानने वाला मत ही बहुजन-समादृत मत है। अतएव पण्डितराज जगन्नाथ ने जो उसका खण्डन किया है व उपादेय नहीं है।

'अनलंकृती पुनः क्वापि' अर्थात् कहीं स्फुटालङ्कार-रहित शब्दार्थ भी काव्य हो सकते हैं, इसे दिखलाने के लिए काव्यप्रकाशकार ने जो 'यः कौमारहरः' इत्यादि श्लोक उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया है उसका समन्वय करते हुए उन्होंने लिखा है कि यहाँ कोई अलङ्कार स्पष्ट नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि उसमें खींचतान कर के 'विभावना' या 'विशेषोक्ति' जैसे अलङ्कार निकालने का प्रयत्न उचित नहीं है। अतएव विश्वनाथ ने यहाँ 'विभावना' 'विशेषोक्ति' मूलक सन्देह-सङ्कर अलङ्कार सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया, वह ठीक नहीं है। 'हरो वरः' इस प्रकार का अनुप्रास रूप शब्दालङ्कार भी प्रकृत शृङ्गार रस के विरोध वर्ण रेफ से घटित होने के कारण अलङ्कार कहलाने योग्य नहीं है।

'रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता' 'काव्यप्रकाश' की इस पंक्ति का अभिप्राय यह है कि - जहाँ रस स्वयं प्रधान न होकर अन्य किसी का अङ्ग बन जाता है वहाँ 'रसवत्' अलङ्कार माना जाता है। इस प्रकार के रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि और समाहित ये चार अलङ्कार अलग माने गये हैं। इनमें से भी कोई अलङ्कार यहाँ नहीं है। क्योंकि यदि रस यहाँ प्रधान न होकर किसी अन्य का अङ्ग होता तब तो इसमें 'रसवत्'- अलङ्कार हो सकता था। परन्तु यहाँ तो रस किसी अन्य का अङ्ग नहीं, अपितु स्वयं प्रधान रूप से अनुभूत हो रहा है इसलिए 'रसवदलङ्कार' भी नहीं है। अतएव 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का यह उदाहरण ठीक बन जाता है यह काव्यप्रकाशकार का अभिप्राय है।

भामह का काव्य-लक्षण—

मम्मट के पूर्ववती। आचार्यों में से साहित्यशास्त्र के भीष्मपितामह 'भामह' का काव्य-लक्षण सबसे अधिक प्राचीन है। उन्होंने –

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।' 1, 16।

यह काव्य का लक्षण किया है। यह लक्षण जितना ही प्राचीन है उतना ही संक्षिप्त है। उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों के सहभाव को काव्य माना है। वे सहभाव या 'सहितौ' शब्द का क्या अर्थ लेते हैं इसकी व्याख्या भी उन्होंने नहीं की है। पर उनका अभिप्राय यह है कि जिस रचना में वर्णित अर्थ के अनुरूप शब्दों का प्रयोग हो या शब्दों के अनुरूप अर्थ का वर्णन हो वे शब्द और अर्थ ही 'सहितौ' पद से विवक्षित हैं। वही शब्द और अर्थ का 'साहित्य' है।

दण्डी का काव्य-लक्षण—

भामह के बाद 'काव्यदर्श' के निर्माता ''दण्डी' का स्थान माना जाता है। दण्डी ने पूर्व के आचार्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है -

'अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्।।
तैः शरीरं काव्यानामलङ्काराश्चः दर्शिताः।'

अर्थात् प्रजा जनों की व्युत्पत्ति को ध्यान में रखकर भामह आदि प्राचीन विद्वानों ने विचित्र मार्गों से युक्त काव्यवाणी के रचना के प्रकारों का वर्णन किया हैं, जिसमें उन्होंने काव्य के शरीर तथा उसके अलङ्कारों का वर्णन किया है।

यहाँ तक डेढ़ कारिका में दण्डी ने पूर्व के आचार्यों के मत की चर्चा की है। उनका सङ्केत यहाँ मुख्य रूप से 'भामह' की ओर ही है। 'भामह' के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस लक्षण में काव्य के शब्द और अर्थमय 'शरीर' का निर्देश है और आगे ग्रन्थ में उसके अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार **'तैः शरीरं काव्यानामलङ्कारश्च दर्शिताः।'** यह पंक्ति स्पष्ट रूप से 'भामह' की ओर संकेत कर रही है। भामह के इस लक्षण में आये हुए 'सहितौ' पद की कोई व्याख्या नहीं की गयी थी। इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न 'दण्डी' ने किया है -

'शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली।।'

यही दण्डी का काव्य-लक्षण है। इष्ट अर्थात् मनोरम हृदयाह्लादक अर्थ से युक्त पदावली-शब्द समूह-अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों मिलकर ही काव्य का शरीर है। इस प्रकार 'भामह' और 'दण्डी' दोनों ने काव्य के शरीर तथा अलङ्कारों की चिन्ता की है, पर उसकी आत्मा का विचार नहीं किया है।

वामन का काव्य-लक्षण—

दण्डी के बाद 'वामन' का लक्षण सामने आता है। वामन ने भामह और दण्डी के उक्त काव्य शरीर में प्राण प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने काव्य के शरीर की चिन्ता न कर के उसके आत्मा का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया है।

'रीतिरात्मा काव्यस्य' (काव्यालङ्कारसूत्र 1, 2, 6)

यह उनका प्रसिद्ध सूत्र है। अर्थात् वे 'रीति' को काव्य की 'आत्मा' मानते हैं और 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्', 'सौन्दर्यमलङ्कारः' आदि सूत्रों में काव्य के सौन्दर्यात्मक अलङ्कारों को काव्य की ग्राह्यता एवं उपादेयता का प्रयोजक मानते हैं।

आनन्दवर्धन का मत—

भामह और दण्डी ने काव्य के शरीर की चर्चा की थी इसलिए आत्मा का कोई प्रश्न उनके सामने न था। वामन ने 'रीतिरात्मा काव्यस्य' लिखकर काव्य की 'आत्मा' क्या है, एक नया प्रश्न उठा दिया है। इसलिए अगले विचारक आनन्द वर्धनाचार्य के सामने काव्य की आत्मा के निर्धारण करने का प्रश्न, काव्य प्रश्न बन गया। रीतियों को वे केवल 'सङ्घटना' या अवयव-संस्थान के समान ही मानते हैं, उनको काव्य की 'आत्मा' वे नहीं मानते हैं। इसलिए उन्होंने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा माना है और वह भी अपने मत से ही नहीं, अपितु प्राचीन अलिखित परम्परा के आधार पर वे 'ध्वनि' को ही काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में हैं। इस विषय में कुछ लोगों ने विप्रतिपत्ति उत्पन्न कर दी थी, उन्हीं के निराकरण के लिए उन्हें 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता पड़ी।

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपन्।।

इस प्रकार आनन्द वर्धनाचार्य के मत से 'ध्वनि' ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। उसके बिना सुन्दर शब्द और अर्थ भी निर्जीव देह के समान त्याज्य हैं। ध्वनि-रूप आत्मा की प्रतिष्ठा होने पर ही शब्दार्थ काव्य होते हैं।

राजशेखर का मत—

पिछले आचार्यों ने काव्य के शरीर, आत्मा, अलङ्कार आदि का जो यह रूपक बाँधा था इसकी पृष्ठ-भूमि में उन्होंने एक 'काव्यपुरुष' की कल्पना की थी जो बहुत स्पष्ट नहीं थी। आगे चलकर राजशेखर ने इस 'काव्यपुरुष' की कल्पना को एकदम स्पष्ट और मूर्त रूप प्रदान कर दिया। उन्होंने 'काव्यपुरुष' का वर्णन करते हुए लिखा है -**''शब्दार्थौ ते शरीरम्, संस्कृतं मुखम्, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचः, रस आत्मा, रोमाणिछन्दांसि, प्रश्नोत्तर-प्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः,अनुप्रासोपमादयश्च मलंकुर्वन्ति।''**ध्वनिकार ने ध्वनि को काव्य की 'आत्मा' माना था। राजशेखर ने उस आत्म तत्त्व को और अधिक निश्चित रूप देने के लिए वस्तु-ध्वनि तथा अलङ्कार-ध्वनि को छोड़कर केवल रस को काव्य का आत्मा माना है।

कुन्तक का काव्य-लक्षण—

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने इन सबकी अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्वक और अधिक स्पष्ट रूप से काव्य का लक्षण करने का प्रयत्न किया है।

शब्दार्थौ सहितौ वक्र-कविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।।

कुन्तक के इस लक्षण में पूर्वोक्त सभी लक्षणों का सारांश प्रायः आ जाता है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'' यह भामह का लक्षण कुन्तक के इस लक्षण में स्पष्ट रूप से ही समाविष्ट हो गया है। **'तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे व्यवस्थितौ'** से दण्डी की **'इष्टार्थव्यवच्छिन्न'** तथा वामन की 'रीति' दोनों का समावेश हो जाता है। 'वक्र-कविव्यापारशालिनि' से ध्वन्यालोककार के व्यञ्जना-प्रधान 'ध्वनि' तथा राजशेखर के 'रस' दोनों का अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार कुन्तक ने मानो पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के काव्य-लक्षणों का निचोड़ अपने इस लक्षण में समाविष्ट कर दिया है। फिर भी अभी उनकी तृप्ति नहीं हुई है। क्योंकि 'सहितौ' पद का स्पष्टीकरण

न भामह के लक्षण में हुआ था और न यहाँ हुआ है। अतएव शब्द और अर्थ के इस 'साहित्य' का स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं-

'शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविवि तावेव किमपूर्व विधीयते।।
साहित्यमनयोः, शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।।'

यहाँ पहले यह शंका की गयी है कि शब्द और अर्थ तो प्रतीति में सदा साथ-साथ ही भासते हैं फिर 'सहितौ' पद से आप उनमें कौन-सी विशेषता दिखलाना चाहते हैं? इस शंका का उत्तर देते हुए कुन्तक यह कहते हैं कि शब्द और अर्थ के 'साहित्य' का अभिप्राय काव्य-सौन्दर्य के लिए उनकी 'न्यूनता या अधिकता से रहित' मनोहर स्थिति होना चाहिये।उसी को शब्द और अर्थ का 'साहित्य' कहते हैं। इस प्रकार कुन्तक ने काव्य लक्षण को अधिक विस्तार के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

क्षेमेन्द्र का मत—

सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार वामन अपने 'रीति-सिद्धान्त' के लिए, आनन्द वर्धन अपने 'ध्वनि-सिद्धान्त' के लिए और कुन्तक अपने 'वक्रोक्ति-सिद्धान्त' के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार क्षेमेन्द्र अपने 'औचित्य-सिद्धान्त' के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने 'औचित्य' को ही काव्य का 'जीवित' माना है। अपने 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थ में वे कहते हैं -

'काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।
अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

विश्वनाथ प्रणीत काव्य-लक्षण—

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ 'रसात्मक वाक्य' को काव्य मानते हैं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' यह उनका काव्य-लक्षण है।

मम्मट प्रणीत काव्य-लक्षण की विशेषता—

यह काव्य-लक्षण अन्य लक्षणों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। कुन्तक ने जिस बात को कई कारिकाओं में कहा है मम्मट ने इस आधी कारिका में ही उसको समाविष्ट कर दिया है। उसके साथ ही 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' पद जोड़कर उन्होंने काव्य-लक्षण का नया दृष्टिकोण भी उपस्थित किया है, जिसका प्राचीन लक्षणों में इतना स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया था। पूर्व लक्षणकारों ने काव्य के शरीर 'शब्द तथा अर्थ, उसकी आत्मा रीति, रस या ध्वनि उसके अलङ्कारों की चर्चा तो अपने लक्षणों में की थी, परन्तु गुण दोष की चर्चा नही की थी। मम्मट इस दोष तथा गुण के प्रश्न को सामने लाये हैं और वह बड़ा आवश्यक प्रश्न है। कितना ही सुन्दर काव्य हो पर उसमें यदि एक भी उत्कट दोष आ जाता है तो वह उसके गौरव को कम कर देता है। महाकवि कालिदास ने—

'एको हि दोषो गुणसन्निपाते
निमज्जतीन्द्रोः किरणेष्विवाङ्कः।'

कहकर चन्द्रमा के सौन्दर्य के भीतर उसके कलङ्क के दब जाने की बात कही है। उनके अनुसार चन्द्रमा का कलङ्क कितना ही दब गया हो परन्तु देखने वाले को वह सबसे पहिले

खटकता है। इसी प्रकार काव्य का दोष उसके गौरव को कम करने वाला हो जाता है। इसलिए मम्मट ने गुण और अलङ्कारों की चर्चा करने से पहिले दोष की चर्चा की है -

'दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम्।
मुखप्रक्षालनात् पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा।।'

शरीर के संस्कार में भी पहिले दोषापनयन रूप संस्कार करने के बाद ही गुणाधान रूप संस्कार किया जाता है, तब उसके बाद अलङ्कार आदि का नम्बर आता है। वह अगर न भी हो तो भी दोषापनयन तथा गुणाधान रूप संस्कार तो अपरिहार्य है। उनके बिना काम नहीं चलता है। इसीलिए मम्मट ने काव्य के शरीर भूत शब्दार्थ के 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' विशेषणों द्वारा इस द्विविध संस्कार की अपरिहार्यता का प्रतापदन किया है और 'अलनंकृती पुनः क्वापि' लिखकर अलङ्कार की गौणता को सूचित किया है। इस प्रकार थोड़े शब्दों में भाव-गम्भीर्य के द्वारा मम्मट ने अपने काव्य लक्षण को अत्यन्त सुन्दर एवं उपादेय बना दिया है।

1.4 सारांश

काव्य के लक्षण के वर्णन से संबंधित किस इकाई में आपने आचार्य मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश में प्रतिपादित काव्य के लक्षण का विधिवत अध्ययन किया जिसमें आचार्य विश्वनाथ द्वारा आचार्य मम्मट के प्रतिपादन को खंडित करने का पूरा पूरा तर्क पूर्ण प्रयास किया गया ।अग्नि पुराण में भी काव्य की परिभाषा बताई गई आचार्य भरत मुनि ने भी काव्य का लक्षण किया। राजशेखर की काव्यमीमांसा में भी काव्य के लक्षण के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। आचार्य भामह ने शब्द और अर्थ के सह भावों को साहित्य कह कर काव्य के लक्षण को प्रतिपादित करने का पूरा प्रयास किया। आचार्य दंडी ने भी काव्यादर्श नामक अपने काव्य शास्त्रीय ग्रंथ में काव्य लक्षण के प्रतिपादन का सक्षम प्रयास किया है। रूद्रट ने भी काव्य का लक्षण किया है। भोजराज ने भी काव्य का लक्षण किया है । इन सभी आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित काव्य के लक्षण का अध्ययन आपने इस इकाई के वर्णन में प्राप्त किया है। कोई अलंकार वादी आचार्य है तो कोई रसवादी, कोई ध्वनिवादी आचार्य है तो कोई वक्रोक्ति का।काव्य के शरीर के निर्माण के लिए चिंतन करके आचार्यों ने काव्य के लक्षण का प्रतिपादन करने का प्रयास किया है।जिस प्रकार मनुष्य के शरीर का निर्माण विभिन्न प्रकार के अंगों से होता है और उसमें प्राण तत्व आज आने पर ही वह किसी भी कार्य प्रणाली में दक्ष होता है उसी प्रकार काव्य के शरीर का निर्माण हो जाने के पश्चात् उसकी आत्मा के विषय में प्रतिपादन होने के पश्चात ही काव्य की धर्मिता भी पाठक के पक्ष में सफल होती हैऔर कवि के पक्ष में भी। ऐसा आपने इस इकाई के वर्णन से जाना। आचार्य मम्मट के द्वारा बताया गया काव्य का लक्षण ही संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों में भी और परंपरा में भी सर्वमान्य रूप से स्वीकृत हुआ । काव्य की आत्मा के विषय में अलंकार को, रस को, गुण को ,ध्वनि को मानने वाले अलग-अलग आचार्य हुए हैं। इस इकाई में आपने इन सभी आचार्यों के मतों का संक्षेप में अध्ययन किया है। यद्यपि आधुनिक संस्कृत साहित्य का भी काव्यशास्त्र की परंपरा में योगदान है। आधुनिक संस्कृत साहित्य शास्त्र में भी अभिराज राजेंद्र, प्रोफ़ेसर रहस बिहारी द्विवेदी तथा राधावल्लभ त्रिपाठी, रेवा प्रसाद द्विवेदी आदि आचार्यों ने काव्य का लक्षण करने का नवीन रूप से प्रयास किया है तथा नई प्रस्थापना भी प्रतिपादित करने का सफल प्रयास संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में किया है। इस प्रकार काव्य लक्षण की व्याख्या से संबंधित इस इकाई का अध्ययन

कर लेने के बाद आप मम्मट से पहले के आचार्य और बाद के आचार्यों के मतों का भी समीक्षात्मक उल्लेख करने में सक्षम हो सकेंगे।

1.5 शब्दावली

	शब्द		अर्थ
1.	विमर्श	-	विवेचन
2.	विरह	-	विश्लेष, अभाव
3.	रोध	-	तट, तीर, कूल
4.	स्फुट	-	स्पष्ट, व्यक्त
5.	ध्वनि	-	ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः
6.	स्फोट	-	स्फुटयति प्रकाशयति अर्थमिति स्फोटः

1.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.साहित्यदर्पण	-	विश्वनाथकविराज
2.काव्यप्रकाश	-	नागेश्वरी टीका
3.काव्यप्रकाश	-	बालमनोरमा व्याख्या
4.महाभाष्य	-	महर्षिपतंजलि

1.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1.संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में आचार्य मम्मट द्वारा किए गए काव्यलक्षण का निरूपण कीजिए।

2.मम्मट द्वारा किए गए काव्यलक्षण की विश्वनाथ द्वारा की गई आलोचना का वर्णन कीजिए।

3.अन्य आचार्यों के मतों के साथ काव्यप्रकाश में दिए गए काव्य लक्षण का समीक्षात्मक वर्णन कीजिए।

4. काव्य लक्षण के विषय में अलंकार, ध्वनि, रस आदि की मान्यताओं का वर्णन कीजिए।

इकाई 02. मम्मट का काव्य प्रयोजन

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्यप्रयोजन

- 2.3.1. यशसे
- 2.3.2. अर्थकृते
- 2.3.3. व्यवहारविदे
- 2.3.4. शिवेतरक्षतये
- 2.3.5. सद्यः परनिर्वृतये
- 2.3.6. कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे

2.4 अन्य आचार्यों का प्रयोजन सम्बन्धी मत

2.5 सारांश

2.6 शब्दावली

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप :

- ❖ मम्मट द्वारा बताये गये काव्य-प्रयोजनों के बारे में विस्तार से जान सकेंगे।
- ❖ तीन प्रकार के उपदेश शैलियों को जानेंगे।
- ❖ काव्य की रचना करने से क्या क्या प्राप्त होता है, बता सकेंगे।
- ❖ प्रयोजन के विषय में मम्मट की समन्वय दृष्टि बता सकेंगे।
- ❖ प्रयोजन विषयक अन्य मतों का परिचय दे सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

आचार्य मम्मट द्वारा रचित काव्यप्रकाश अलंकार-शास्त्र का मर्यादित ग्रन्थ है। अलंकार-शास्त्र का दूसरा नाम काव्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र भी है। काव्यप्रकाश मम्मट की रचना है। कवि का भाव कवित्व, कविता अथवा कविकर्म क्या है? इन सबकी विवेचना से पहले मम्मट ने काव्यप्रयोजन का ही प्रतिपादन किया है। काव्य का निर्माण कवि को कालिदास आदि के समान यश की प्राप्ति कराता है। नैषध महाकाव्य के प्रणेता महाकवि श्री हर्ष से नहीं, अपितु 'रत्नावली नाटिका' के प्रणेता राजा श्री हर्ष आदि से धावक आदि (पण्डितों) के समान काव्य निर्माण धन की प्रप्ति कराता है और काव्यों के अध्ययन करने से पढ़ने वालों को वर्णित राजा आदि के साथ अन्य लोगों के व्यवहार, राजा आदि के साथ किये जाने योग्य आचार का परिज्ञान कराता है।

अत: इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप मम्मट रचित काव्यप्रयोजन की जानकारी प्राप्त करके संस्कृत काव्यशास्त्र में अन्य आचार्यों के प्रयोजन सम्बन्धी मतों को भी समझा सकेंगे।

2.3 मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्यप्रयोजन

काव्य का भी प्रयोजन अवश्य होगा क्योंकि **''प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते''** अर्थात् यदि किसी कार्य में कोई प्रयोजन न हो तो मन्द-बुद्धि वाला व्यक्ति भी उस में प्रवृत्त नहीं होता है। जब लोक में मन्दमति भी विना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करता है, फिर काव्य तो सहृदयों का विषय है। बिना प्रयोजन के सहृदय किसी काव्य में कैसे प्रवृत्त हो सकेगा ? अतः कोई न कोई काव्य का प्रयोजन अवश्य होगा, यह काव्य का पहला सोपान है, इस पर आरूढ हुए बिना हम अग्रिम सोपान पर नहीं चढ़ सकते। आचार्य मम्मट के पहले अथवा बादके भी काव्यशास्त्रियों ने काव्यप्रयोजन के बारे में बताया है। किन्तु आचार्य मम्मट ने समन्वय स्थापित करते हुए यहाँ कुल छः प्रकार के प्रयोजनो का प्रतिपादन किया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

2.3.1. यशसे

'यशसे' अर्थात् काव्य-रचना 'यश के लिए' होती है। 'यश' सदैव रहता है, नश्वर शरीर के समाप्त हो जाने के बाद भी 'यश' की उपस्थिति ही इस संसार में रहती है। आचार्य भर्तृहरिकहते हैं कि—

जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।।

रससिद्ध महाकवि कालिदास आदि का यशः शरीर, जन्म-मृत्यु के भय से में नहीं है, आज के परिवेश में भी व्यास, वाल्मीकि आदि ऋषियों की रचनाएँ इस संसार में पढी जा रहीं हैं। अतः काव्य-रचना से यश की प्राप्ति होती है। यह काव्य का पहला प्रयोजन हुआ कि काव्य से यश की प्राप्ति होती है। इस संसार में जन्म लेने वाले सभी मनुष्यों को यश की प्राप्ति नहीं होती है, कीर्ति की प्राप्ति तो हो सकती है। यश की प्राप्ति को कविता का प्रयोजन माना गया जिसके उदाहरण स्वरूप कालिदास आदि रससिद्ध कवियों का नाम लिया गया है। हम सहज ही जान सकते हैं कि आज भी महर्षि वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास, भवभूति आदि अनेक रससिद्ध कवियों को पढ़ा जा रहा है। पढ़ाया भी जा रहा है और उनके द्वारा दिए गए उपदेशों को ग्रहण भी किया जा रहा है। उन्हीं के द्वारा रचित ग्रन्थों से उदाहरण ग्रहण करके शिक्षा के क्षेत्र में आज भी प्रमाण प्रस्तुत किए जा रहे हैं। वह आज जीवित नहीं हैं फिर भी उनके न रहने पर भी उनके कार्यों की इस प्रकार उपयोगिता है, यही उनकी यश प्राप्ति का प्रमाण है।

2.3.2. अर्थकृते

द्वितीय प्रयोजन है 'अर्थकृते' यहाँ अर्थ से तात्पर्य 'धन' से है, तो धन-प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है। यह जानना चाहिए कि प्राचीन काल में महाकविगण किसी न किसी राजा के आश्रय में रहते थे, वे अपनी कृतियों से राजा एवं जनता का मागदर्शन करते। राजाअपने कवि को प्रभूत धन एवं स्वर्णमुद्राएँ देता था, उसके अतिरिक्त आज भी पुस्तक प्रकाशित करने वाले प्रकाशन/संस्थाएँ लेखकों को रॉयल्टी देती हैं, जिससे उन्हें धन-प्राप्ति होती है। काव्य रचना से अर्थ की प्राप्ति व्यावहारिक रूप से भी आज के समाज में भी सोता सिद्ध है। आचार्य मम्मट ने अर्थ प्राप्ति के उदाहरण में श्रीहर्ष का उदाहरण अवश्य दिया है किंतु किसी भी साहित्य में जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो प्राचीन कवियों के न रहने पर भी आज भी उनकी कृतियों का मुद्रण करने पर उनके परिवार को ही अर्थ की प्राप्ति कराई जा रही है।अतः धन प्राप्त करना भी काव्य रचना का प्रयोजन संस्कृत काव्यशास्त्र में मम्मट की दृष्टि में भी स्वीकृत है।

2.3.3. व्यवहारविदे

काव्य रचना का यह प्रयोजन बहुत महत्त्वपूर्ण है, काव्य का एक प्रयोजन व्यवहार का ज्ञान भी कराना है, जैसे रामायण हमें शिक्षा मिलती है-'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्।

अर्थात् राम आदि की तरह आचरण करना चाहिए रावण आदि की तरह नहीं। काव्य-नाटक आदि में जो चरित्र-चित्रण होता है, उससे भिन्न-भिन्न स्थितियों में पात्रों के परस्पर व्यवहार की शैली का परिज्ञान होता है। राजा आदि के साथ किस प्रकार का शिष्टाचार व्यवहार में लाना चाहिए, इस बात का परिज्ञान काव्य के द्वारा जनसाधारण को प्राप्त होता है। अतः लोक व्यवहार का ज्ञान कराना भी काव्य का प्रयोजन है। वस्तुत: व्यवहार का ज्ञान तो शिक्षा का ही सबसे बड़ा प्रयोजन है।र समाज में काव्य भी अनेक विषयों को उपस्थित करके समाज को शिक्षित करते हैं। व्यवहार ज्ञान प्रदान करते हैं, इतिहास के कथानक और राजाओं का आचरण प्राचीन काल से काव्य रचना के विषय हुआ करते थे। इसके अलावा किसी महापुरुष का जीवन चरित्र हो अथवा उसके पुरुषार्थ से अर्जित कोई समाज का पथ प्रदर्शित करने वाली घटना हो। यही सब कवियों की काव्य रचना के विषय बना करते थे। आज के परिवेश में भी कर्म योगी पुरुषों के ऊपर का भी लिखे जा रहे हैं। कर्मयोगी महिलाओं के ऊपर भी काव्य रचनाएं हो रही हैं। इसी से काव्य के द्वारा व्यवहार ज्ञान समाज को कराया जाता है।

2.3.4. शिवेतरक्षतये

शिव का अर्थ है कल्याण, शिवेतर अर्थात् कल्याण से भिन्न अर्थात् अकल्याण (अनिष्ट) के नाश के लिए। इस योजन के दृष्टान्त के रूप में ग्रन्थकार ने 'मयूर' कवि को प्रस्तुत किया है। 'मयूर' कवि राजा भोज के सभापण्डित थे और धारानगरी में रहते थे। एक प्रसिद्ध कथा के अनुसार 'मयूर' कवि को कुष्ठ रोग हो गया, इस अमंगल के निवारण हेतु उन्होंने 100 श्लोंको से भगवान् सूर्य की स्तुति की। सूर्य की स्तुति करके 'मयूर' कवि ने कुष्ठ-रोग से छुटकारा पाया था, और वही स्तुति बाद में 'सूर्यशतकम्' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसीलिए अनिष्टनिवारण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। मुख्य उदाहरण में काव्य की रचना के द्वारा कल्याण को ग्रहण किया गया है। कल्याण किसी एक माध्यम या विधा से नहीं बल्कि अर्थ की प्राप्ति भी कल्याण है, यश की प्राप्ति भी कल्याण है ,व्यवहार का ज्ञान हो जाना भी कल्याण ही है ,और इन सब बातों के अलावा मनुष्य के जीवन में किसी भी अनर्थ का निवारण करने में काव्य के उपदेश बहुत सक्षम होते हैं। इसी के दृष्टिगत आचार्य मम्मट ने इस प्रयोजन को काव्य का प्रयोजन माना होगा। भारत के समस्त शास्त्र कविता में ही लिखे गए । इस प्रकार स्पष्ट है कि उनमें किए गए वर्णन विधि और निषेध के रूप में प्रत्येक मनुष्य के लिए कल्याणकारी हैं।कविता में दिए गए उपदेश और उपाय सार्वभौमिक रूप से मनुष्य का कल्याण करते हैं।

2.3.5. सद्यः परनिर्वृतये

यह **''सकलप्रयोजनमौलिभूतम्''** अर्थात् यह सभी प्रयोजनों में विशेष है। काव्य अथवा नाटक सुनने, देखने के साथ ही सद्यः आनन्द को देने वाला होता है। सद्यः परिनिर्वृति अर्थात् काव्य के निर्माण अथवा पाठ के साथ ही जो एक विशेष प्रकार के आन्तरिक आनन्द की प्राप्ति होती वह अलौकिक आनन्दानुभूति ही काव्य का सबसे प्रयोजन है। इस आनन्दानुभूति की

वेला में पाठक संसार का और सब-कुछ भूलकर उसी काव्य-जगत् में तल्लीन हो जाता है। इस तन्मयता में ही उस अलौकिक आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। मम्मट ने कारिका की वृत्ति में इस प्रयोजन के लिए 'विगलितवेद्यान्तरम्' तथा 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' इन दो विशेषणों का प्रयोग किया है। अलौकिक आनंद की प्राप्ति को आचार्य ने प्रयोजन में माना है। मनुष्य के कष्ट को किसी मशीन के द्वारा नहीं दूर किया जा सकता, दुख से निवृत्ति का कोई तकनीकी मार्ग नहीं हो सकत। उदासीनता दूर करने के लिए और प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए कविता और साहित्य के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति में कोई उपाय और साधन नहीं है। कोई भी मनुष्य अपने दुख के क्षणों में हृदय की पीड़ा को केवल कविता की शरण में जाकर ही दूर कर सकता है । ऐसी मान्यता के दृष्टिगत ही इस प्रकार के प्रयोजन को काव्य प्रयोजन के रूप में आचार्य मम्मट ने स्वीकार किया है।

2.3.6. कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे

काव्य से कान्ता (स्त्री) के समान सरस शैली में अपने पाठकों को उचित-अनुचित का उपदेश प्राप्त होता है। वेदादिशास्त्र तथा पुराण-इतिहास आदि से काव्य का भेद और उसकी उपयोगिता का प्रतिपादन बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। काव्य की उपदेश-शैली वेद-पुराण-इतिहास से विलक्षण है। इस विलक्षणता को बताने के लिए शब्दप्रधान, अर्थ प्रधान तथा रसप्रधान तीन तरह की उपदेशशैलियों की कल्पना की गयी है, जिनको क्रमशः प्रभुसम्मित, सुहृत् सम्मित तथा कान्तासम्मित उपदेश कहा जाता है। वेदादिशास्त्र, राजाज्ञाओं की तरह शब्दप्रधान होते है, जिनका अक्षरशः पालन अनिवार्य होता है, इसीलिए उन्हें प्रभुसम्मित उपदेश की कोटि में रखते हैं। दूसरी उपदेश-शैली इतिहास-पुराण आदि की है। शास्त्रों के समान इसमें शब्दों की प्रधानता नहीं होती है अपितु अर्थ पर विशेष बल दिया जाता है। इसलिए उनका अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं होता है । अपितु उनके अभिप्राय का अनुसरण किया जाता है। यह 'सुहृत्सम्मित' शैली है। जैसे कोई मित्र अपने मित्र को उचित कार्य को करने तथा अनुचित कार्य का परित्याग करने का उपदेश देता है, परन्तु उसका उपदेश राजाज्ञा के समान शब्द-प्रधान नहीं होता है। उसका तात्पर्य अर्थ में होता है, किन्तु काव्य की उपदेश-शैली इन दोनों से भिन्न होती है, उसमें न शब्द की प्रधानता होती है और न अर्थ की। वहाँ शब्द तथा अर्थ दोनों गौण हो जाते हैं और केवल रस की प्रधानता होती है। यह शैली 'कान्तासम्मित' उपदेश शैली है। स्त्री जब किसी कार्य में पुरूष को प्रवृत्त या किसी कार्य से उसको निवृत्त करती है तब वह अपने हाव भाव चेष्टा आदि से उसको सरस बनाकर ही उस प्रकार की प्रेरणा देती है। इसलिए इसको रस-प्रधान शैली कहा जा सकता है। आचार्य मम्मट ने काव्य की उपदेश-शैली को इस श्रेणी में रखा है। इन सभी प्रयोजनों की आवश्यकता मानवीय-व्यवहार में अपेक्षित है।

2.4 अन्य आचार्यों का प्रयोजन सम्बन्धी मत

वामन का मत —

मम्मटाचार्य ने यहाँ काव्य के जिन छह प्रयोजनों का निरूपण किया, लगभग उसी प्रकार के काव्य प्रयोजनों का प्रतिपादन उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया है। इनमें से 'वामन' कृत प्रयोजनों का निरूपण सबसे अधिक संक्षिप्त है। उन्होंने काव्य के केवल दो प्रयोजन माने हैं - एक कीर्ति और दूसरा प्रीति या आनन्द। उन्होंने लिखा है—

'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।

इनमें से प्रीति अर्थात् आनन्दानुभूति को काव्य का दृष्ट-प्रयोजन तथा कीर्ति को काव्य का अदृष्टार्थ प्रयोजन माना है और इस पर विशेष बल दिया है। उन्होंने इस विषय में तीन श्लोक भी दिये हैं—

'प्रतिष्ठां काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्वविडम्बनाम्।।1।।
कीर्तिं स्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्तिन्तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्।।2।।
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्तिं च व्यपोहितुम्।
काव्यालङ्कारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुङ्गवैः।।3।।

भामह का मत—

वामन के भी पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने वामन की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ काव्य के प्रयोजनों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार किया है—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।।

अर्थात् उत्तम काव्य की रचना धर्म, अर्थ काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थों तथा समस्त कलाओं में निपुणता और कीर्ति एवं प्रीति अर्थात् आनन्द को उत्पन्न करने वाली होती है। भामह के इस श्लोक को उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने आदरपूर्वक अपनाया है। इसके अनुसार कीर्ति तथा प्रीति के अतिरिक्त पुरुषार्थ-चतुष्टय, कला तथा व्यवहार आदि में निपुणता की प्राप्ति भी काव्य का प्रयोजन है।कीर्ति को काव्य का मुख्य प्रयोजन बतलाते हुए जिस प्रकार वामन ने तीन श्लोक लिखे थे, जो ऊपर दिये जा चुके हैं, उसी प्रकार भामह ने भी कुछ श्लोक इसी अभिप्राय के लिखे हैं जो नीचे दिये जा रहे हैं—

'उपेयुषामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्क कान्तं काव्यमयं वपुः।।6।।
रुणद्धि रोदसी चास्य यावत् कीर्तिरनश्वरी।
तावत् किलायमध्यास्ते सुकृती वैबुधं पदम्।।7।।
अतोभिवांछता कीर्तिं स्थेयसीमा भुवः स्थितेः।
यत्नो विदितवेद्येन विधेयः काव्यलक्षणः।।8।।
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते।।11।।
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।

कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।।12।।

अर्थात् उत्तम काव्यों की रचना करने वाले महाकवियों के दिवङ्गत हो जाने के बाद भी उनका सुन्दर काव्य-शरीर 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' अक्षुण्ण बना रहता है। जब तक उनकी अनश्वर कीर्ति इस भू-मण्डल तथा आकाश में व्याप्त रहती है तब तक वे सौभाग्यशाली पुण्यात्मा देवपद का भोग करते हैं। इसलिए प्रलयपर्यन्त स्थिर रखने वाली कीर्ति के चाहने वाले कवि को, उसके उपयोगी समस्त विषयों का ज्ञान प्राप्त कर उत्तम काव्य की रचना के लिए प्रयत्न करना चाहिये। काव्य में एक भी अनुपयुक्त पद न आने पावे इस बात का ध्यान रखना चाहिये, क्योंकि बुरे काव्य की रचना से कवि उसी प्रकार निन्दा का भाजन होता है जिस प्रकार कुपुत्र से पिता की निन्दा होती है। कुकवि बनने की अपेक्षा तो अ-कवि होना अच्छा है क्योंकि अ-कवित्व से न तो अधर्म होता है और न व्याधि या दण्ड का भागी ही बनना पड़ता है परन्तु कु-कवित्व को विद्वान् लोग साक्षात् मृत्यु ही कहते हैं।

कुन्तक का मत—

कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में इसको और भी अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने काव्य के प्रयोजनों का निरूपण करते हुए लिखा है—

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोभिजातानां हृदयाह्लादकारकः।।3।।
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्य व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते।।4।।
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।।5।।

अर्थात् काव्य की रचना अभिजात-श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न-राजकुमार आदि के लिए सुन्दर एवं सरस ढंग से कहा गया धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि का सरल मार्ग है।सत्काव्य के परिज्ञान से व्यवहार करने वाले सब प्रकार के लोगों को अपने-अपने व्यवहार का पूर्ण एवं सुन्दर ज्ञान प्राप्त होता है। और सबसे बड़ी बात यह है कि उससे सहृदयों के हृदय में चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति से भी बढ़कर आनन्दानुभूति रूप चमत्कार उत्पन्न होता है।

कवि तथा पाठक की दृष्टि से काव्य के प्रयोजन-विभाग—

पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिन काव्य-प्रयोजनों का प्रतिपादन किया था उनका और भी अधिक परिमार्जन कर के काव्यप्रकाशकार ने सबसे अधिक सुन्दर एवं विस्तृत रूप में काव्य के प्रयोजनों का निरूपण किया है। इनमें से तीन को मुख्यतः कवि-निष्ठ तथा तीन को मुख्यतः पाठक-निष्ठ प्रयोजन कहा जा सकता है। 'यशसे', 'अर्थकृते' तथा **'शिवेतरक्षतये'** ये तीन मुख्यतः कवि के उद्देश्य से और **'व्यवहारविदे', 'सद्यः परनिर्वृतये'** तथा **'कान्तासम्मिततया**

उपदेशयुजे' ये तीन मुख्यतः पाठक की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयोजन कहे जा सकते हैं। परन्तु प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार का विभाजन नहीं किया है।

भरतमुनि का मत—

काव्यशास्त्र के आद्य आचार्य श्रीभरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य अथवा काव्य के प्रयोजनों का वर्णन इस प्रकार किया है—

उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्।
हितोपदेशजननं धृति-क्रीड़ा-सुखादिकृत्।।113।।
दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।।114।।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति।।115।।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी के आधार पर काव्य के प्रयोजनों का निरूपण किया है।इस प्रकार अधिकांश आचार्यों ने कीर्ति या यश को काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है। कदाचित् इसीलिए मम्मटाचार्य ने भी अपनी कारिका में उसको सबसे पहिला स्थान दिया है। कवि की दृष्टि से वह है भी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण। परन्तु पाठक की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन **'सद्यः परनिर्वृति'** अर्थात् अलौकिक आनन्दानुभूति है। इसलिए मम्मटाचार्य ने उसको 'सकलप्रयोजन-मौलिभूतम्' कहा है।

अभ्यास प्रश्न

1.आचार्य मम्मट ने काव्य के कितने प्रयोजन बताए हैं ।
क. चार
ख. तीन
ग. दो
घ. छ:
2.किस आचार्य के मत में काव्य की रचना करने से यश की प्राप्ति होती है ।
क.वामन
ख.मम्मट
ग. कुन्तक
घ. भरत
3.काव्य की रचना को धर्म का साधन किस आचार्य ने माना है ।
क. कुन्तक
ख. भरत
ग. वामन
घ. मम्मट

4.अभिजात्य वर्ग के हृदय को आनंदित करने वाला काव्य का प्रयोजन किस आचार्य के मत में मान्य है।

क. भरत

ख. वामन

ग. मम्मट

घ. कुन्तक

5.कीर्ति और प्रीति को किस आचार्य ने काव्य के प्रयोजन के अंतर्गत स्वीकार किया है।

क. वामन

ख. मम्मट

ग. भामह

घ. भरत

2.5 सारांश

मम्मटाचार्य ने काव्य के छह प्रयोजन दिखलाये हैं। उनमें से 'कान्तासम्मिततया उपदेशयुजे' की व्याख्या करते हुए उन्होंने वेदादि शास्त्र तथा पुराण-इतिहासादि से काव्य का भेद और उसकी उपादेयता का प्रतिपादन बड़े अच्छे ढंग से किया है। काव्य के प्रयोजनों में यश, धन आदि अन्य प्रयोजनों के साथ कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करना भी एक मुख्य प्रयोजन है। वेद-शास्त्र-इतिहास-पुराण आदि की रचना भी मनुष्यों को शुभ-कर्मों में प्रवृत्त करने तथा अशुभ-कर्मों से निवृत्त करने के लिए ही की गयी है। परन्तु काव्य की उपदेश-शैली उन सबसे विलक्षण है।इस विलक्षणता का उपपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा रस प्रधान तीन तरह की उपदेश शैलियों की कल्पना भी की है, जिनको क्रमशः **'प्रभुसम्मित','सुहृत्सम्मित'** तथा **'कान्तासम्मित'** पदों के द्वारा बताया गया है। इसी प्रकार काव्य के कारणों और लक्षणों की विश्लेषणात्मक व्याख्या भी प्रस्तुत इकाई में की गयी है ।इस प्रकार मम्मट प्रतिपादित काव्य प्रयोजन से संबंधित इस इकाई का अध्ययन कर लेना के बाद आप कविता के प्रयोजन को भलीभांति तो जानेंगे ही किंतु मम्मट से पहले के आचार्यों का काव्य के प्रयोजन के विषय में क्या मत था और उन्होंने अपने ग्रंथों में काव्य के प्रयोजन को किस प्रकार रखा ,आदि आदि विषयों की व्याख्या कर सकेंगे। वस्तुत इस संसार में कोई भी व्यक्ति बिना प्रयोजन के किसी भी कार्य को करना प्रारम्भ नहीं करता है संसार का व्यवहार बिना प्रयोजन के संभव ही नहीं है इसी के दृष्टिगत संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा काव्य के प्रयोजन का चिंतन किया गया। आचार्य भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में काव्य नाटक के प्रयोजन पर ठीक से विचार किया और सबसे पहले उन्होंने पाठकों के समक्ष प्रयोजन नाम की मान्यता को स्पष्ट रूप में दर्शाया। यह परंपरा भरतमुनि से चलकर बहुत आगे तक आयी और आचार्य मम्मट के द्वारा इस परंपरा में समन्वय स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया गया जिसके फलस्वरूप उन्होंने छह प्रयोजनों को पाठकों के समक्ष रखा और वे सर्वमान्य हो गए। काव्य की रचना करने के बाद कवि के पक्ष में और पाठक के पक्ष

में दोनों ओर प्रयोजन की चर्चा की गई है। कवि को यश की प्राप्ति होती है, अर्थ की प्राप्ति भी होती है, और उसका कल्याण भी होता है। इसी प्रकार काव्य के पाठकों को व्यवहार का ज्ञान होता है, धर्म की प्राप्ति होती है, पुरुषार्थ चतुष्टय का ज्ञान होता है तथा सबसे सहज और सरल उपदेश प्राप्त होता है।

2.6 शब्दावली

	शब्द		अर्थ
1.	शिवेतरक्षतिः	-	अमंगल का नाश
2.	सद्यः परनिर्वृतये	-	काव्य-श्रवण से सद्यः आनन्द की प्राप्ति
3.	कान्ता	-	पत्नी, भार्या
4.	सम्मित	-	तुल्य, सदृश
5.	विलक्षण	-	असाधारण, असामान्य

2.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. घ. छः
2.ख.मम्मट
3.क. कुन्तक
4.घ. कुन्तक
5.ग. भामह

2.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1- संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तूरबा नगर सिगरा वाराणसी।

2- काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, चौखम्भा संस्कृत भारती, वाराणसी।

2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. काव्यशास्त्र में कविता के प्रयोजन को रेखांकित कीजिए।
2. सिद्ध कीजिए कि आचार्य मम्मट के द्वारा प्रतिपादित काव्य के प्रयोजन समन्वयवादी हैं।
3. आचार्य भरत से लेकर अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए मम्मट प्रतिपादित काव्य प्रयोजनों की व्याख्या कीजिए।

इकाई 03. काव्य हेतु

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 काव्य हेतु
3.4 सारांश
3.5 शब्दावली
3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ
3.7 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के शरीर के निर्माण के विषय में तो सभी आचार्यों ने अपने अपने मतों को प्रदर्शित करते हुए तथ्यों से अवगत कराया है। किंतु न केवल शरीर के निर्माण से कार्य चल सकता है बल्कि उसमें प्राण तत्व की आवश्यकता होती है। इस महत्वपूर्णता के दृष्टिगत अप सभी आचार्यों ने काव्य के शरीर में प्राण तत्व का विचार किया । जिसे आत्मा के रूप में माना जाता है। किसी आचार्य ने अलंकार के विषय में विचार किया तो किसी आचार्य ने रस के विषय में विचार किया । किसी आचार्य ने गुण के विषय में विचार किया तो किसी आचार्य ने रीति के विषय में विचार किया। औचित्य सम्प्रदाय भी इससे अछूता नहीं रहा। इतना ही नहीं आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के आधार पर भी काव्य के शरीर के निर्माण को परिभाषित करने का प्रयास किया।

यह परम्परा आचार्य भरत मुनि के पूर्व से ही लगभग चली आ रही है ।इसी परंपरा में संस्कृत काव्यशास्त्र के सारे विधि-विधान रचे गए जो आधुनिक युग में भी विद्यमान हैं । आज के परिवेश में भी संस्कृत काव्यशास्त्र के नवीन आचार्यों ने अपना करने का प्रयास किया है। जिसमें काव्य के लक्षण प्रयोजन और कारण की व्याख्या करने का भरपूर उपाय बताया गया है। भारतीय दर्शन की मान्यता है कि बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता । इस सिद्धान्त के दृष्टिगत काव्य प्रयोजन की तरह काव्य के कारण पर भी विचार किया गया है।

इस इकाई में आप आप भी काव्य के कारण का अध्ययन करेंगे। जिन तत्वों से मिलकर जिन कारणों से काव्य का निर्माण होता है, उनके विषय में भिन्न-भिन्न आचार्यों में अपने मत व्यक्त किए। अतः इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप काव्य की रचना के कारणों की व्याख्या करने में सक्षम हो सकेंगे।

3.2 उद्देश्य

काव्य हेतु नामक इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात आप:

- ❖ कविता के कारणों से परिचित हो सकेंगे ।
- ❖ आचार्य मम्मट के पहले काव्य के कौन से कारण बताए गए उनकी व्याख्या कर सकेंगे।
- ❖ आचार्य मम्मट नें काव्यप्रकाश में काव्य के किन कारणों का उल्लेख किया है, इसे बता सकेंगे ।
- ❖ आचार्य भरत मुनि से लेकर अन्य आचार्यों ने काव्य के कारणों पर क्या विचार किया है, इसे समझा सकेंगे ।
- ❖ एक ही कारण होता है अथवा सम्मिलित रूप से कारण होते हैं ,इसका भी उल्लेख कर सकेंगे ।
- ❖ आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्यहेतु की व्याख्या कर सकेंगे ।

3.3 काव्य हेतु

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुवे।।3।।

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां बिना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य लोकवृक्रास्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधान कोशकला चतुर्वर्ग गजतुरगखड्ः-गादिलक्षणग्रन्थानाम्, काव्यानाँ च महाकवि सम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः। काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिताः, न तु व्यस्ताः, तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः।।3।।

काव्य के प्रयोजनों का प्रतिपादन करने के बाद आचार्य मम्मट काव्य के प्रयोजक हेतुओं का वर्णन अगली कारिका में करते हैं - कवि में रहने वाली उसकी स्वाभाविक प्रतिभारूप 1. शक्ति, 2. लोक (व्यवहार), शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता और 3. काव्य की रचना-शैली तथा आलोचना पद्धति को जानने वाले (गुरु) की शिक्षा के अनुसार काव्य के निर्माण का अभ्यास, ये तीनों मिलकर समष्टि रूप से उस (काव्य) के विकास (उद्भव) के कारण बनते हैं।। 3।।

शक्ति के बिना कोई भी कार्य संपादित हो सकता है और न ही प्रारंभ किया जा सकता है। किसी भी कार्य को करने की यदि शक्ति नहीं होगी तो वह कार्य न प्रारंभ हो सकता है और न ही उसका कोई परिणाम निकल सकता है । काव्य के कारण पर विचार करते समय आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में सबसे पहले शक्ति को ही कविता का कारण माना है । अग्नि पुराण में भी इस बात को स्वीकार किया गया।

1. शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः कवित्व का बीजभूत संस्कार -विशेष (प्रतिभा या शक्ति (कहलाती) है, जिसके बिना काव्य बनता ही नहीं है। अथवा तुकबन्दी के रूप में कुछ बन जाने पर भी उपहास के योग्य होता है।

2. लोक अर्थात् स्थावरजङ्गम रूप संसार के व्यवहार के, शास्त्र अर्थात् छन्द, व्याकरण, संज्ञा-शब्दों (अभिधान) के कोश (अमरकोश आदि), कला (अर्थात् भरत, कोहल आदि प्रणीत नृत्य-गीत आदि चौसठ प्रकार की कलाओं के प्रतिपादक लक्षण-ग्रन्थों), चतुर्वर्ग (अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक ग्रन्थ), हाथी-घोड़े (आदि के लक्षणों के प्रतिपादक शालिहोत्र आदि रचित ग्रन्थ) एवं खड्गआदि के लक्षण ग्रन्थों और महाकवि सम्बन्धी (अर्थात् महाकवियों द्वारा रचे गये) काव्यों के, आदि (पद के) ग्रहण से (सूचित) इतिहास आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न व्युत्पत्ति (विशेष प्रकार का ज्ञान)।

3. जो काव्य (की रचना) करना और उसकी विवेचना करना जानते हैं उनके उपदेश के अनुसार (अपने आप नवीन श्लोकादि के) निर्माण करने और (प्राचीन कवियों के श्लोकों में) जोड़-तोड़ करने में बार-बार प्रवृत्ति (अर्थात् अभ्यास) ये तीनों मिलकर (समष्टि रूप से) अलग-अलग नहीं, उस काव्य के उ॰व अर्थात् निर्माण और विकास में कारण हैं। अलग-अलग तीन कारण नहीं होते हैं। अत: (1) शक्ति, (2) लोकव्यवहार, शास्त्र एवं काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न व्युत्पत्ति तथा (3) काव्य की रचना-शैली और उसके गुण-दोषों के जानने वाले विद्वानों की शिक्षा के अनुसार अभ्यास इन तीनों की समष्टि को ही काव्य-निर्माण की योग्यता प्राप्त करने का कारण माना गया है।

आचार्य वामन ने भी (1) लोक, (2) विद्या तथा (3) प्रकीर्ण इन तीनों को काव्य का अङ्ग, काव्य-निर्माण की क्षमता प्राप्त करने का साधन बतलाया है—

लोको विद्या प्रकीर्णं चकाव्याङ्गानि 1, 2, 1।

लोकवृत्तं लोक: 1, 3, 2।

शब्दस्मृत्यभिधानकोश-छन्दोविचिति-कला-कामशास्त्र-दण्डनीतिपूर्वा विद्या: 1, 3, 3।

लक्ष्यज्ञत्वमभियोगो वृद्धसेवावेक्षणं प्रतिभानमवधानं च प्रकीर्णम् 1, 3, 11।

आचार्य मम्मट ने वामन के लोक तथा विद्या दोनों को 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता' के अन्तर्गत कर लिया है। 'प्रकीर्ण' में से 'शक्ति' को अलग कर दिया है और 'वृद्ध-सेवा' का **'काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास:'** में अन्तर्भाव करके मम्मट ने वामन के समान आठ काव्याङ्गों का मुख्य रूप से तीन काव्य-साधनों के रूप में प्रतिपादन किया है।

भामह ने भी काव्य-कारणों का निरूपण किया है—

'शब्दश्छन्दोभिधानार्था इतिहासाश्रया: कथा:।
लोको युक्ति: कलाश्चेति मन्तव्या काव्यगैरमी।।9।।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबन्धांश्च कार्य: काव्यक्रियादर:।।10।।

इन काव्य-साधनों की तुलना करने से प्रतीत होता है कि काव्य-साधन सभी आचार्यों की दृष्टि में लगभग एक-से ही हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न आचार्यों ने थोड़ा-बहुत भेद करके अलग-अलग ढंग से निरूपण कर दिया है। तात्विक रूप से उनके विवेचन में अधिक भेद नहीं है।। 3।।

आचार्य भामह के मतानुसार काव्यहेतु——

"गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातुं कस्यचित् प्रतिभावत:।।" (काव्यालंकार-१-१४)

अर्थात् गुरू के उपदेश से जड़ बुद्धि वाले के लिए भी शास्त्र अध्ययन करने के लिए सुलभ हो जाता है या उतना ही पर्याप्त होता है। लेकिन काव्य सृजन तो किसी प्रतिभावान की

प्रतिभा से ही उत्पन्न होता है। बिना प्रतिभा के कोई भी काव्य रचना में समर्थ नहीं हो सकता है। आगे भामह ने प्रतिभा के परिष्कार और पोषण के लिए काव्य रचना के पहले कवि को यह निर्देश दिया है कि विधिवत् शब्द और अर्थ का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इसके लिए उसे शास्त्र ज्ञान, कोशगत अर्थ की जानकारी, छंदशास्त्र, व्याकरण और अपने से पहले के श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं का भली भाँति अनुशीलन करना चाहिए, जिससे उसके द्वारा रचित काव्य न केवल सरसता व निर्दोषता से युक्त हो बल्कि उसकी रचना में नवीनता और अपूर्वता के गुण भी समाहित होते हैं।

दंडी के मतानुसार काव्यहेतु—

"नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहुनिर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः॥"(काव्यादर्श-१/१०३)

अर्थात् यहाँ पर दण्डी काव्य के प्रमुख हेतुओं पर प्रकाश डालते हुए बताते हैं कि काव्य सम्पदा के कारणों में नैसर्गिक प्रतिभा, बहुत सारे शास्त्रों को सुनने से प्राप्त निर्मल बुद्धि और निरन्तर तीव्र अभ्यास आते हैं। काव्य रचना के लिए केवल प्रतिभा से कार्य नहीं होता बल्कि उसके साथ साथ अन्य महत्वपूर्ण रचनाओं व शास्त्रों के सुनने-पढ़ने से उत्पन्न निर्मल बुद्धि की भी जरूरत होती है। काव्य सृजन के विविध प्रकारों और पद्धतियों की जानकारी के बिना उचित रूप में अभ्यास करने में कवि की प्रतिभा सफल नहीं हो सकती है। प्रतिभा के साथ निर्मल बुद्धि की आवश्यकता पर बल देने का कारण यह है कि यदि कवि की बुद्धि शुद्ध नहीं है तो वह अपनी प्रतिभा का दुरूपयोग भी कर सकता है या उसके भटकाव की भी संभावना हो सकती है। प्रतिभा का सही ढंग से उपयोग निर्मल बुद्धि ही कर सकती है। उदात्त और श्रेष्ठ कवि का अन्तःकरण अत्यधिक मात्रा में सत्व सम्पन्न या शुद्ध होता है। जिसके कारण वह अभ्यास में तीव्रगामी होता है और शीघ्र ही उत्तम कोटि के काव्य सृजन का सामर्थ्य हासिल कर लेता है।

वामन ने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकारसूत्रवृति' में काव्य-हेतु के लिए **'काव्यांग'** शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार लोक, विद्या तथा प्रकीर्ण — ये तीन काव्य निर्माण की क्षमता प्राप्त करने के अंग हैं। **"लोको विद्या प्रकीर्णंच काव्यांगानि।" — काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १/३/१**

प्रतिभा को जन्मजात गुण मानते हुए इसे प्रमुख काव्य हेतु स्वीकार किया गया है — **"कवित्त बीजम् प्रतिभानम्"** प्रतिभा के अतिरिक्त वे लोकव्यवहार, शास्त्रज्ञान, शब्दकोश आदि की जानकारी को भी काव्य हेतुओं में स्थान देते हैं। ध्यातव्य है कि काव्यांग में वामन ने लोक तथा विद्या के पश्चात ही प्रतिभा को महत्व दिया है।

रुद्रटके अनुसार काव्य के तीन कारण हो सकते हैं — शक्ति (प्रतिभा), व्युत्पत्ति एवं अभ्यास। इन्होंने प्रतिभा के भी दो भेद किए हैं — सहजा तथा उत्पाद्या। सहजा कवियों में

जन्मजात होती है एवं वही काव्य का मूल तत्व है। उत्पाद्या लोक-व्यवहार, शास्त्र अध्ययन एवं अभ्यास से उत्पन्न होती है।

आनंदवर्द्धन ने काव्य का प्रमुख हेतु प्रतिभा (शक्ति) को मानते हुए बताया कि प्रतिभारहित व्यक्ति कोई रचना नहीं कर सकता। प्रतिभा और व्युत्पत्ति में से वे प्रतिभा को ही श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं।

"न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभा गुणः।
सत्स्वपि पुरातन कविप्रबंधेषु यदि स्यात् प्रतिभागुण॥"

ध्वन्यालोक, ४/६

उनके अनुसार प्रतिभाशाली व्यक्ति में वर्ण्य-विषयों का अभाव नहीं होता, वह प्राचीन वर्णित विषयों में भी नए भाव भर देता है। राजशेखरने माना कि **"प्रतिभा व्युत्पत्ति मिश्रः समवेते श्रेयस्यौ इति"** अर्थात् प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों समवेत रूप में काव्य के श्रेयस्कार हेतु हैं। राजशेखर प्रतिभा के दो भेद स्वीकारते है — **कारयित्री एवं भावयित्री।** कारयित्री प्रतिभा जन्मजात होती है तथा इसका सम्बन्ध कवि या रचनाकार से है। भावयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध सहृदय पाठक या आलोचक से है। कारयित्री प्रतिभा भी तीन प्रकार की होती है — सहजा, आहार्या तथा औपदेशिकी। सहजा अर्थात् जो पूर्व जन्म के संस्कार से उत्पन्न होती है तथा इसमें जन्मांतर संस्कार की अपेक्षा होती है। आहार्या का उदय इसी जन्म के संस्कारों से होता है जबकि औपदेशिकी की उत्पत्ति मंत्र, तंत्र, देवता तथा गुरु आदि के उपदेश से होती है।

मम्मट ने माना है कि शक्ति (प्रतिभा) के अभाव में काव्य का प्रसार संभव नहीं। 'शक्ति कवित्व बीजरूपः यां बिना न काव्यं न प्रसरेत्।' काव्य के उद्भव या निर्माण में शक्ति (प्रतिभा), निपुणता, लोक-काव्य-शास्त्र आदि का अवलोकन, काव्य के जानकारों (कवि और काव्य के सिद्धांत की जानकारी रखने वाले लोगों) द्वारा प्राप्त शिक्षा के अनुसार अभ्यास प्रमुख हेतु या कारण होते हैं। मम्मट का दृष्टिकोण सबसे अधिक व्यापक और व्यावहारिक है। कवि की प्रतिभा, शास्त्र का ज्ञान और अभ्यास की चर्चा उनके पहले के आचार्य कर चुके थे। मम्मट की मौलिकता इस बात में है कि उन्होंने काव्य और शास्त्र के साथ साथ लोक के अवलोकन (Observation) को महत्व दिया और स्वतंत्र रूप से अभ्यास करने में समय व श्रम के अपव्यय को ध्यान में रखते हुए कवियों और आचार्यों के मार्गदर्शन में अभ्यास का निर्देश दिया है। शक्ति या प्रतिभा और निपुणता के साथ प्रामाणिक मार्गदर्शन जरूरी है। लोक, शास्त्र और काव्य के निरीक्षण करने के बाद पर्याप्त मात्रा में उचित विचार विमर्श के बाद काव्य रचना में प्रवृत्त होने का निर्देश देना मम्मट के आचार्यत्व का ही परिचायक नहीं है, अपितु इससे यह भी पता चलता है कि काव्य कर्म मात्र कौतुक क्रीड़ा या शब्द व्यापार न होकर एक अत्यंत महत्वपूर्ण और जिम्मेदारी भरा कर्तव्य है। इसके पालन में सामर्थ्य हासिल करने के लिए प्रतिभा प्रबंधन व मार्गदर्शन आवश्यक है।

पंडितराज जगन्नाथने प्रतिभा को ही एकमात्र काव्यहेतु स्वीकार किया। प्रतिभा के दो भेदों — कारयित्री एवं भावयित्री को मानते हुए भी इन्होंने केवल कारयित्री प्रतिभा को महत्व दिया। केवल प्रतिभा को ही काव्यहेतु मानने के कारण इन्हें **'केवल प्रतिभावादी' ("प्रतिभैवकेवला कारणम्")** भी कहा जाता है। प्रतिभा के बारे में उनका मत है कि काव्य-रचना के अनुकूल शब्दार्थ की उपस्थितिमात्र करानेवाली क्षमता है—**"सा च काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति।"** । उन्होंने प्रतिभा के तीन विभाग किए — **अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास।** अदृष्ट प्रतिभा की उत्पत्ति देवकृपा, महापुरुष आदि के वरदान से होती है। किसी-किसी में व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के अभाव में भी शैशवावस्था से काव्य-निर्माण की क्षमता आ जाती है। अतः व्युत्पत्ति एवं अभ्यास को काव्य का कारण न मानकर एकमात्र प्रतिभा को ही माना जा सकता है। जगन्नाथ ने यह भी माना है कि प्रतिभा की विविधता और विलक्षणता के कारण ही काव्य में विविधता और विलक्षणता आती है।

3.4 सारांश

इस प्रकार आपने देखा कि शक्ति को और प्रतिभा को अधिकांश आचार्यों ने काव्य का कारण माना। गुरु द्वारा दिए गए उपदेश को भी मूलभूत शिक्षा के रूप में कहीं किया जा रहा है। किसी भी कवि को कविता करने के लिए अभ्यास की जितनी आवश्यकता है उससे भी अधिक लोक और शास्त्र दोनों के ज्ञान की आवश्यकता है। भामाह, रूद्रट, दण्डी, राजशेखर, पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों के मतों को आपने पढ़ा और जाना। किन्तु साथ ही जब आप आचार्य मम्मट द्वारा प्रतिपादित काव्य के कारणों का अध्ययन करेंगे तो देखेंगे कि मम्मट ने शक्ति को, निपुणता को और अभ्यास को सम्मिलित रूप से काव्य की रचना में कारण माना है, न कि अलग-अलग। कविता की शक्ति प्रतिभा है, ऐसा भी आचार्यों ने कहा। प्रतिभा एक ऐसा तत्व है जिसे प्रकारान्तर से ही सही, आचार्यों को स्वीकार करना पड़ा है। इतिहास पुराण का ज्ञान होना तथा सभी शास्त्रों का बोध होना कविता की रचना में बहुत बड़ा कारण है। महाकवियों की सेवा करके उनके सानिध्य में रहते हुए भी काव्य रचना की योग्यता प्राप्त की जा सकती है ऐसा आचार्यों का मानना है। आचार्य मम्मट के पहले अनेक आचार्यों ने काव्य के हेतु पर चिंतन करके अपने विचारों से अवगत कराया था किंतु आचार्य मम्मट ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास को सम्मिलित रूप से कारण मानते हुए किसी एक को कारण नहीं माना। इनके मत में तीनों तत्व एक में मिलकर ही काव्य की रचना में सक्षम हो सकते हैं ,और वही काव्य प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकता है। काव्य के प्रकारों में उत्तम मध्यम तथा अधम तीन प्रकार के कार्यों की चर्चा की गई है। किन्तु काव्य की रचना में जब कारणों पर दृष्टिपात किया जाता है तब उत्तम काव्य की रचना ही सबसे पहले समक्ष आती है इसके लिए कविता करने की शक्ति होना और वेद पुराण शास्त्र आदि की जानकारी से ओतप्रोत रहकर कवि कर्म में निपुण होना तथा महाकवियों के साथ बैठकर कविता का निरन्तर अभ्यास करते रहना ही तीनों तत्व सम्मिलित रूप से कविता की रचना में कारण हैं। इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप काव्य के हेतु की व्याख्या करने के लिए शक्ति, निपुणता और अभ्यास को तथा प्रतिभा को अलग-अलग समझा सकेंगे।

3.5 शब्दावली

शब्द		अर्थ
कारयित्री	–	करने की शक्ति देने वाली
भावयित्री	-	शोभा उत्पन्न करने की शक्ति प्रदान करने वाली
निपुणता	–	दक्ष होना
लोक	–	संसार और समाज की गतिविधियॉं
महाकवि	-	कालिदास आदि
हेतव:	-	कारणों

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

1-संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तूरबानगर सिगरा वाराणसी।

2-काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, व्याख्याकार विश्वेश्वर पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी ।

3.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संस्कृत काव्यशास्त्र में काव्य के कारणों पर किए गए विचारों की व्याख्या कीजिए।
2. काव्यप्रकाश में प्रतिपादित काव्य हेतु का विश्लेषण कीजिए।
3. सिद्ध कीजिए कि आचार्य मम्मट ने सम्मिलित रूप से कार्य के कारणों को माना है।
4 . मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य के कारणों की समीक्षा कीजिए।
5 . काव्य के कारणों के वर्णन में आचार्य मम्मट की दृष्टि की विवेचना कीजिए।

चतुर्थ सेमेस्टर/SEMESTER-IV

खण्ड-02

रस एवं अलंकार

इकाई .1 रसोत्पत्तिवाद विभिन्न मत

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 रसोत्पत्तिवाद विभिन्नमत
1.4 सारांश
1.5 शब्दावली
1.6 अभ्यासार्थ प्रश्न - उत्तर
1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.8 उपयोगी पुस्तकें
1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड दो की यह प्रथम इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि रस का स्वरूप क्या है इसका सम्यग् रूप से वर्णन किया गया काव्य प्रकाश आदि ग्रन्थों में किस प्रकार किया गया है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव से रस की निष्पत्ति का वर्णन किया गया है और यह बतलाया है कि रति आदि की उत्पत्ति के जो कारण हैं वे विभाव शब्द से कार्य, अनुभाव शब्द से और सहकारी व्यभिचारिभाव नाम से कहे जाते हैं।

इनमें से रति आदि के कारण का नाम 'विभाव' है। रति आदि के कारण दो प्रकार के होते हैं, एक आलम्बन रूप और दूसरे उद्दीपन रूप। सीता, राम आदि एक दूसरे की प्रीति के आलम्बनरूप कारण होते हैं। क्योंकि सीता को देखकर राम के मन में और राम को देखकर सीता के मन में प्रेम या रति की उत्पत्ति होती है। इसलिए वे दोनों आलम्बन विभाव कहलाते हैं और परस्पर रति या प्रेम की उत्पत्ति के प्रति कारण होते हैं।

अतः इस इकाई के अध्ययन के बाद आप रस की उत्पत्ति विषयक अवधारणा से लेकर सभी मतों की सम्यक विवेचना कर सकेगें ।

1. 2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप रसोत्पत्तिवाद विभिन्नमतों का सांगोपांग वर्णन किया गया है इसके के महत्त्व पूर्ण बातों का अध्ययन करेंगे।

- ❖ स्थायिभाव के विषय में आप अध्ययन करेंगे।
- ❖ मौलिक रसों का सिद्धान्त इसके विषय में आप अध्ययन करेंगे।
- ❖ स्थायिभावों का तुलनात्मक चित्र इसके विषय में आप अध्ययन करेंगे।
- ❖ व्यभिचारिभा के विषय में आप अध्ययन करेंगे ।

2.3 रसोत्पत्तिवाद विभिन्न मत

रस स्वरूप निरूपण—

(सू0 43) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।27।।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।

व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।।28।।

(सू0 43) - लोक में रति आदिरूप स्थायी भाव के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, वे यदि नाटक या काव्य में (प्रयुक्त) होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं और उन विभाव (आलम्बन या उद्दीपन) आदि (रूप कारण, कार्य तथा सहकारियों के योग) से व्यक्त वह (रति आदिरूप) स्थायी भाव 'रस' कहलाता है।। 27,28।।

उपर्युक्त कारिकाओं में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव से रस की निष्पत्ति का वर्णन किया गया है और यह बतलाया गया है कि रति आदि की उत्पत्ति के जो कारण हैं वे विभाव शब्द से, कार्य अनुभाव शब्द से और सहकारी व्यभिचारिभाव नाम से कहे जाते हैं। इनमें से रति आदि के कारण का नाम 'विभाव' है। रति आदि के कारण दो प्रकार के होते हैं, एक आलम्बन रूप और दूसरे उद्दीपन रूप। सीता, राम आदि एक दूसरे की प्रीति के आलम्बनरूप

कारण होते हैं। क्योंकि सीता को देखकर राम के मन में और राम को देखकर सीता के मन में प्रेम या रति की उत्पत्ति होती है। इसलिए वे दोनों आलम्बन विभाव कहलाते हैं और परस्पर रति या प्रेम की उत्पत्ति के प्रति कारण होते हैं। इस प्रीति या रति को उद्बुद्ध करने वाली चाँदनी, उद्यान, नदी तीर आदि सामग्री को उद्दीपन विभाव कहा जाता है, क्योंकि वे पूर्वोत्पन्न रति आदि को उद्दीप्त करने वाले हैं। इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन दोनों मिलकर स्थायी भाव को व्यक्त करते हैं।

1.स्थायिभाव—

रस की प्रक्रिया में आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव को रस का बाह्य कारण समझना चाहिये। रसानुभूति का आन्तरिक और मुख्य कारण स्थायिभाव है। स्थायिभाव मन के भीतर स्थिर रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है और हृदय में एक अपूर्व आनन्द का संचार कर देता है। इस स्थायिभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वादजनक या रस्यमान होने से रस-शब्द से बोध्य होती है। इसलिए 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसःस्मृतः' आदि कहा गया है।

अर्थात् उन पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से व्यक्त होने वाले स्थायिभाव को रस कहते हैं।

व्यवहार की दशा में मनुष्य को जिस-जिस प्रकार की अनुभूति होती है उसको ध्यान में रखकर प्रायः आठ प्रकार के स्थायिभाव साहित्यशास्त्र में माने गये हैं। काव्यप्रकाशकार ने उनकी गणना इस प्रकार की है -

(सू0 45) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।

जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः।।

अर्थात् 1. रति, 2. हास, 3. शोक, 4. क्रोध, 5. उत्साह, 6. भय, 7. जुगुप्सा या घुणा और 8. विस्मय ये आठ स्थायिभाव कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त 9. निर्वेद को भी नौवाँ स्थायिभाव माना गया है। काव्यप्रकाशकार ने लिखा है -

(सू0 47)- निर्वेदस्थायिभावोस्ति शान्तोपि नवमो रसः।

इस प्रकार नौ स्थायिभाव और उनके अनुसार ही 1. शृंगार, 2. हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. वीभत्स, 8. अद्भुत और 9. शान्त ये नौ रस माने गये हैं।

ये नौ स्थायिभाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से सदा विद्यमान रहते हैं इसलिए 'स्थायिभाव' कहलाते हैं।सामान्य रूप से वे अव्यक्तावस्था में रहते हैं, किन्तु जब जिस स्थायिभाव के अनुकूल विभावादि सामग्री प्राप्त हो जाती है तब वह व्यक्त हो जाता है और रस्यमान या आस्वाद्यमान होकर रसरूपता को प्राप्त हो जाता है। बीच में चार मौलिक रसों के सिद्धान्तों की बात आ जाती है।प्रसंग वश उनकी चर्चा भी आवश्यक है।

चार मौलिक रसों का सिद्धान्त—

अधिक सूक्ष्म विवेचन करने वाले धनिक तथा धनञ्जय आदि आचार्यों ने नौ मालिक मनःसंवेगों अथवा स्थायिभावों के स्थान पर केवल चार स्थायिभाव या चार रस मानने का भी निर्णय किया है और शेष रसों की उत्पत्ति उन चार से ही मानी है। उनका कहना है कि रसानुभूति के काल में चित्त की विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप रूप चार प्रकार की ही अवस्थाएँ होती हैं इसलिए चार ही रस मानने चाहिये। दशरूपककार ने इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा है -

विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः।।

शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्

हास्यादुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि।।

अर्थात् काव्य के परिशीलन से आत्मा में आनन्द की अनुभूति का नाम स्वाद या रसास्वाद है। वह आत्मानन्द चित्त के विकास, विस्तार, विक्षोभ तथा विक्षेप रूप से चार प्रकार का होता है। चित्त की यह चार प्रकार की अवस्था क्रमशः शृङ्गार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रस में होती है। शेष हास्य, अद्भुत, भयानक तथा करुण रस में भी चित्त की वे ही अवस्थाएँ होती हैं -

अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।।

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।

वीराच्चैवादुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः।।

अर्थात् शृङ्गार रस से हास्य की उत्पत्ति होती है और रौद्र रस से करुण रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार वीर रस से अद्भुत तथा बीभत्स रस से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। अर्थात् हास्य आदि अन्तिम चार रसों की उत्पत्ति शृङ्गार आदि पहिले के चार रसों से होती है। इसलिए चार ही मुख्य रस हैं, इस प्रकार का अवधारण किया जा सकता है।

प्राचीन साहित्यशास्त्रियों ने जो रस और उनसे सम्बद्ध स्थायिभावों की कल्पना की थी वह पूर्णतः मनोवैज्ञानिक आधार पर ही की थी। आज के मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आधार पर भी उनकी मनोवैज्ञानिकता का समर्थन किया जा सकता है।

2.विभाव—

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, रसानुभूति के कारणों को 'विभाव' कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं-एक 'आलम्बन-विभाव' और दूसरा 'उद्दीपन-विभाव'। जिसको आलम्बन कर के रस की उत्पत्ति होती है उसको 'आलम्बन-विभाव' कहते हैं। जैसे सीता को देखकर राम के मन में और राम को देखकर सीता के मन में रति की उत्पत्ति होती है और उन दोनों को देखकर सामाजिक के भीतर रस की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए सीता, राम आदि शृङ्गार रस के 'आलम्बन-विभाव' कहलाते हैं। चाँदनी, उद्यान, एकान्त स्थान आदि के द्वारा उस रति का उद्दीपन होता है। इसलिए उनको शृङ्गार रस के 'उद्दीपन-विभाव' कहा जाता है। प्रत्येक रस के आलम्बन तथा उद्दीपन-विभाव अलग-अलग होते हैं।

3.अनुभाव—

'स्थायीभाव' रसानुभूति का प्रयोजक अन्तरङ्ग या आभ्यन्तर कारण है। आलम्बन तथा उद्दीपन विभाव उसके बाह्य या बहिरङ्ग कारण हैं। इसी प्रकार अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव उस आन्तर रसानुभूति से उत्पन्न, उसकी बाह्याभिव्यक्ति के प्रयोजक शारीरिक तथा मानसिक व्यापार हैं। इनको रस का कारण, कार्य तथा सहकारी कहा जाता है। साहित्यदर्पणकार ने अनुभाव का लक्षण इस प्रकार किया है -

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन।

लोके यः कार्यरूपः सोनुभावः काव्यनाट्ययोः।।3, 132।।

अर्थात् अपने-अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणों से, सीता-राम आदि के भीतर उद्बुद्ध रति आदि रूप स्थायिभाव को बाह्य रूप में जो प्रकाशित करता है वह रत्यादि का कार्यरूप, काव्य और नाट्य में 'अनुभाव' के नाम से कहा जाता है। भरतमुनि ने अनुभाव का लक्षण निम्नलिखित प्रकार किया है -

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोनुभाव्यते।

शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः।। 7, 5।

अर्थात् जो वाचिक या आङ्गिक अभिनय के द्वारा रत्यादि स्थायिभाव की आन्तर अभिव्यक्तिरूप अर्थ का बाह्य रूप में अनुभव कराता है उसको 'अनुभाव' कहते हैं।

भरत-नाट्यशास्त्र के अनुसार अनुभावों का विशेष उपयोग अभिनय की दृष्टि से ही होता हैं किसी रस की बाह्य अभिव्यक्ति के लिए अलग-अलग अभिनय-शैली का अवलम्बन किया जाता है। अलग-अलग रस को प्रकाशित करने वाले स्मित आदि बाह्य व्यापार 'अनुभाव' कहलाते हैं और वे प्रत्येक रस में अलग-अलग होते हैं। वैसे अनुकार्य की दृष्टि से भी वे उसकी रसानुभूति के बाह्य प्रदर्शक होते हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के सप्तमाध्याय में अलग-अलग स्थायिभावों और रसों के अनुभावों का वर्णन इस प्रकार किया है –

स्थायिभाव और उनके अनुभावों का चित्र स्थायिभाव, और उनके अनुभाव

1. रतिः तामभिनयेत् स्मितवदन-मधुरकथन-भ्रूक्षेप-कटाक्षादिभिरनभावैः।

2. हासःतमभिनयेत् पूर्वोक्तैर्हसितादिभिरनुभावैः।

3. शोकः तस्यास्रपात -परिदेवित -विलपित -वैवर्ण्य-स्वरभेद -स्रस्तगात्रता-भूमि -पतन-सस्वनरुदित-आक्रन्दित-दीर्घनिःश्वसित-जडता-उन्माद-मोह-मरणादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

4. क्रोधःअस्य कृष्टनासापुट -उद्वृत्तनयन -सन्दष्टोष्ठपुट -गण्डस्फुरणादिभि रनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

5. उत्साहः तस्य धैर्य-शौर्य-त्याग-वैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

6. भयम् तस्य प्रकम्पितकरचरण -हृदयकम्पन - स्तम्भ - मुखशोष- जिह्वापरिलेहन स्वेदवेपथु-त्रास –परित्राणान्वेषण – धावन - उत्क्रुष्टादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।

7. जुगुप्सा तस्याःसर्वाङ्गसङ्कोच-निष्ठीवन-मुखविकूणन-हृल्लेखादिभि नुभावै रभिनयः प्रयोक्तव्यः।

8. विस्मयः तस्यनयनविस्तार-अनिमेषप्रेक्षित-भ्रूक्षेपरोमहर्षणशिरः कम्पसाधुवादादिभि रनुभावैरभिनयःप्रयोक्व्यः।

भरतमुनि के द्वारा अनुभावों का यह जो विशेष रूप से अभिनय में प्रयोग दिखलाया गया है उससे प्रतीत होता है कि अनुभाव वस्तुतः आन्तर रसानुभूति की बाह्य अभिव्यञ्जना के साधन हैं और उनमें शारीरिक व्यापार की प्रधानता रहती है। नट कृत्रिम रूप से इन अनुभावों का अभिनय करता है परन्तु अनुकार्य राम आदि की अन्तःस्थ रसानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति इन साधनों के द्वारा होती है। वे रसानुभूति के 'अनु पश्चात् भवन्ति इत्यनुभावाः' बाद में होते हैं, रसानुभूति के कार्य होते हैं, इसलिए 'अनुभाव' कहलाते हैं। अथवा अनुकार्य राम आदि की रसानुभूति का अनुभव, अनुमान सामाजिकों को कराते हैं, इसलिए अनुभाव कहलाते हैं।

4.व्यभिचारिभाव—

उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि तथा उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं उनको व्यभिचारिभाव कहते हैं। भरतमुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' के सप्तम अध्याय में व्यभिचारिभाव शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है -

'व्यभिचारिण इदानीं व्याख्यास्यामः। अत्राह-व्यभिचारिण इति कस्मात्। उच्यते-विअभि इत्येतावुपसर्गौ, चर इति गत्यर्थो धातुः। विविधम् आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति

व्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। अत्राह-कथं नयन्तीति। उच्यते-लोक-सिद्धान्त एषः यथा सूर्य इदं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति। न च तेन बाहुभ्यां सकन्धेन वा नीयते। किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत्, यथेदं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति। एवमेते व्यभिचारिणः इत्यवगन्तव्याः। तानिह संग्रहाभिहितांस्त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणो भावान् वर्णयिष्यामः।'उक्तं हि भरतेन - ''विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'' इति। एतद्विवृण्वते -

अर्थात् जो रसों में नाना रूप से विचरण करते हैं और रसों को पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं उनको 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं। इन व्यभिचारिभावों की संख्या 33 मानी गयी है। ये 33 व्यभिचारिभाव सब रसों में मिलकर होते हैं। अलग-अलग रसों के हिसाब से उनका वर्गीकरण नहीं किया गया है। भरतमुनि ने व्यभिचारिभावों की गणना इस प्रकार की है-

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः।।18।।
ब्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च।।19।।
सुप्तं विवोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च।।20।।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः।।21।।

भरतमुनि के रससूत्र का परिचय—

रस की निष्पत्ति का सर्वप्रथम उल्लेख भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। वही सारे रस-सिद्धान्त की आधार-भित्ति है। भरतमुनि के 'रससूत्र' की व्याख्या में उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपनी शक्ति लगायी है और उसके परिणामस्वरूप 1. उत्पत्तिवाद, 2. अनुमितिवाद, 3. भुक्तिवाद और 4. अभिव्यक्तिवाद इन चार सिद्धान्तों का विकास हुआ है। विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है इस भरत-सूत्र में जो 'निष्पत्ति' शब्द आया है उसके भी चार अर्थ होते हैं। भट्टलोल्लट के मत में 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति', शंकुक के मत में 'अनुमिति', भट्टनायक के मत में 'भुक्ति' और अभिनवगुप्त के मत में 'निष्पत्ति' शब्द से अभिव्यक्ति का ग्रहण होता है।

'विभाव-अनुभाव-व्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः' विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। यह भरतमुनि का सूत्र है। इस सूत्र की अनेक प्रकार की व्याख्या उनके टीकाकारों ने की है जिनमें से 1. भट्टलोल्लट, 2. शंकुक, 3. भट्टनायक तथा 4. अभिनवगुप्त मुख्य व्याख्याकार हैं। इन चार आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या यहाँ काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी उद्धृत की है। इन चारों आचार्यों द्वारा की जानेवाली यह व्याख्या अभिनवगुप्त-रचित भरतनाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' नामक टीका में से ली गयी है। (जैसा कि) भरतमुनि ने कहा भी है -

'विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है'। अब यहाँ क्रमशः सभी आचार्यों के मतों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. भट्टलोल्लट

2. शंकुक,

3. भट्टनायक

4. अभिनवगुप्त

1.भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

भरत के रससूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट उत्पत्तिवाद के पोषक हैं। उनके मत में विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से अनुकार्य राम आदि में रस की उत्पत्ति होती है। उनमें भी विभाव सीता आदि मुख्य रूप से रस के उत्पादक होते हैं। अनुभाव उस उत्पन्न हुए रस को बोधित करने वाले होते हैं और व्यभिचारिभाव उस उत्पन्न रस के परिपोषक होते हैं। अतः स्थायिभाव के साथ विभावों का उत्पाद्य उत्पादक भाव, अनुभावों का गम्य-गमकभाव और व्यभिचारिभावों का पोष्य-पोषक भाव सम्बन्ध होता है। इसलिए भरत-सूत्रों में 'संयोग' शब्द आया है भट्टलोल्लट के मत में उसके भी तीन अर्थ हैं। विभावों के साथ संयोग अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादक-भाव सम्बन्ध अनुभावों के साथ गम्य-गमकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य-पोषकभावरूप सम्बन्ध 'संयोग' शब्द का अर्थ होता है। इसी बात को आगे कहते हैं -

(विभावों अर्थात् रस के आलम्बन तथा उद्दीपन के कारणभूत) ललना (आलम्बनविभाव) और उद्यान आदि (उद्दीपन-विभावों) से रति आदि (स्थायी) भाव उत्पन्न हुआ, (रति आदि की उत्पत्ति के) कार्यभूत कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया और सहकारीरूप निर्वेद आदि व्यभिचारिभावों से पुष्ट किया गया मुख्य रूप से अनुकार्यरूप राम आदि में और उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट में प्रतीयमान (अर्थात् आरोप्यमाण रत्यादि स्वायिभाव ही) रस (कहलाता) है। यह भट्टलोल्लट आदि का मत है।

वह जो भट्टलोल्लट आदि का मत दिखलाया है इसमें स्थायिभाव के साथ विभावों का 'संयोग' अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध, अनुभावों के साथ गम्य-गमकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध 'संयोग' से अभिप्रेत है ऐसा मान कर ही व्याख्या में क्रमशः 'जनितः', 'प्रतीतियोग्यः कृतः' तथा 'उपचितः इन पदों का प्रयोग किया गया है। दूसरी बात यह है कि इस मत में रस मुख्य रूप से अनुकार्य राम आदि में रहता है और उनका अनुकर्ता होने के कारण गौण रूप से नट में भी रस की स्थिति मानी जाती है। परन्तु सामाजिक में रस की उत्पत्ति नहीं होती है। तीसरी बात यह है कि जैसे भरत-सूत्र में आये हुए 'संयोग' शब्द के तीन अर्थ यहाँ माने गये हैं उसी प्रकार भरत-सूत्र में आये हुए 'निष्पत्ति' शब्द के भी तीन अर्थ समझने चाहिये। विभाव के साथ स्थायिभाव का 'संयोग' अर्थात् उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध होने पर रस की 'निष्पत्ति' अर्थात् 'उत्पत्ति' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'उत्पत्ति' होता है। अनुभावों के साथ 'संयोग' अर्थात् गम्य-गमकभाव सम्बन्ध होने पर रस की 'निष्पत्ति' अर्थात् 'प्रतीति' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'प्रतीति' होता है और व्यभिचारिभावों के साथ पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध होने से रस की 'निष्पत्ति' तथा 'पुष्टि' होती है। यहाँ 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ पुष्टि होता है। यह इस व्याख्या का अभिप्राय है।

इस व्याख्या को टीकाकारों ने मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार की गयी व्याख्या बतलाया है। 'मीमांसा' से यहाँ 'उत्तर-मीमांसा' अर्थात् 'वेदान्त' का ग्रहण करना चाहिये। वेदान्त में जगत

की आध्यासिक प्रतीति मानी गयी है। जैसे रज्जु में सर्प की आध्यासिक या आरोपित प्रतीति के समय सर्प के विद्यमान न होने पर भी सर्प की प्रतीति और उससे भयादि कार्यों की उत्पत्ति होती है; उसी प्रकार अभिनयादि के समय रामादिगत सीताविषयिणी अनुरागादिरूपा रति के विद्यमान न होने पर भी नट में विद्यमान रूप से उसकी प्रतीति और उसके द्वारा सहृदयों में चमत्कारानुभूति आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है। इसी सादृश्य के कारण इस सिद्धान्त को 'मीमांसा' अर्थात 'उत्तर-मीमांसा' या 'वेदान्त' का अनुगामी सिद्धान्त कहा जा सकता है। इस व्याख्या के करने वाले भट्टलोल्लट मीमांसक पण्डित थे।

भट्टलोल्लट के मत में न्यूनता—

भट्टलोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बड़ी कमी यह प्रतीत होती है कि इसमें मुख्य रूप से अनुकार्य तथा गौण रूप से नट में तो रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि आदि मानी गयी है, परन्तु सामाजिक को रसानुभूति क्यों होती है इस समस्या पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। दूसरी बात यह है कि अनुकार्य सीता-राम आदि तो अब इस जगत् में नहीं हैं। अतः इस समय किये जाने वाले अभिनय से उनमें रस की उत्पत्ति नहीं बन सकती है। इसलिए उनके अनुकर्ता नट में भी रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ये दो इस व्याख्या के मुख्य दोष हैं। इसलिए यह व्याख्या अन्य आचार्यों को रुचिकर प्रतीत नहीं हुई।

2. शंकुक का अनुमितिवाद—

राम एवायम् अयमेव राम इति, न रामोयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोयमिति, रामः स्याद्वा न वायमिति, रामसदृशोयमिति, च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

'सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता।।25।।
दैवादमहद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम्।।26।।

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगात् गम्यगमकभावरूपात्, अनुमीयमानोपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।

न्याय-सिद्धान्त के अनुयायी भरत-सूत्र के दूसरे टीकाकार शंकुक ने इस सूत्र की दूसरे प्रकार की व्याख्या उपस्थित की है। उसमें उन्होंने सामाजिक के साथ रस का सम्बन्ध दिखलाने का प्रयत्न किया है। इस व्याख्या के अनुसार नट कृत्रिम रूप से अनुभाव आदि का प्रकाशन करता है। परन्तु उनके सौन्दर्य के बल से उनमें वास्तविकता-सी प्रतीत होती है। उन कृत्रिम अनुभाव आदि को देखकर सामाजिक, नट में वस्तुतः विद्यमान न होने पर भी, उसमें रस का आत्मसात कर लेता है और अपनी वासना के वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रस का आस्वादन करता है। शंकुक की इस व्याख्या को काव्यप्रकाशकार ने निम्नलिखित प्रकार से उपस्थित किया है -

1. 'यह राम ही है' अथवा 'यह ही राम है' (इस प्रकार की सम्यक् प्रतीति),
2. 'यह राम नहीं है' इस प्रकार उत्तरकाल में बाधित होने वाली 'यह राम' है (इस प्रकार की मिथ्याप्रतीति),

3. 'यह राम है या नहीं' (इस प्रकार की संशयरूप प्रतीति) और

4. 'यह राम के समान है' (इस प्रकार की सादृश्य-प्रतीति,) इन 1. सम्यक्प्रतीति, 2. मिथ्याप्रतीति, 3. संशयप्रतीति तथा 4. सादृश्यप्रतीतियों से भिन्न प्रकार की 'चित्र-तुरग-न्याय' से होने वाली (पाँचवें प्रकार की) प्रतीति से ग्राह्य नट में - मेरे अङ्गों में सुधा रस के समान (आनन्ददायिनी), आँखों के लिए कर्पूर की शलाका के समान (शीतलतादायक) और मन के लिए शरीर-धारिणी मनोरथ्ज्ञ श्री के समान यह प्राणेश्वरी मुझे अब दिखलायी दे रही है॥25॥

दैवात् मैं चञ्चल, बड़ी-बड़ी आँखों वाली उस (प्रियतमा) से आज ही अलग हुआ और (आज ही) निरन्तर उमड़ते हुए मेघों से युक्त यह (सन्तापकारी वर्षा का) काल आ गया॥26॥

इत्यादि काव्यों के अनुशील से तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किये हुए अपने (अनुभाव इत्यादि) कार्य से नट के ही द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले, कृत्रिम होने पर भी कृत्रिम न समझे जाने वाले, विभाव आदि शब्दों से व्यवहृत होने वाले, कारण, कार्य और सहकारियों के साथ 'संयोग' अर्थात् गम्य-गमकभाव रूप सम्बन्ध से, अनुमीयमान होने पर भी, वस्तु के सौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद का विषय होने से अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी रूप से सम्भाव्यमान रति आदि भाव यहाँ (अर्थात् नट में वास्तव रूप में) न रहते हुए भी सामाजिक के संस्कारों से (स्वात्मगतत्वेन) आस्वाद किया जाता हुआ 'रस' कहलाता है। यह श्रीशंकुक का मत है। (इस मत में भरत-सूत्र के 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'अनुमिति' और 'संयोग' शब्द का अर्थ गम्य-गमकभाव सम्बन्ध है।) श्रीशंकुक के मत का विश्लेषण किया जाय तो उसमें निम्नलिखित बातें विशेष ध्यान देने योग्य पायी जाती हैं -

1-शंकुक ने नट में रस की अनुमेय माना है। अनुमान की सामग्री में, नट में 'चित्रतुरग-न्याय' से राम-बुद्धि का प्रतिपादन किया है। जैसे घोड़े के चित्र को देखकर 'यह घोड़ा है' इस प्रकार का व्यवहार होता है, परन्तु इस प्रतीति को 1. न सत्य कहा जा सकता है, 2. न मिथ्या, 3. न संशय रूप कहा जा सकता है और 4. न सादृश्य रूप प्रतीति ही माना जा सकता है। चित्रस्थ तुरग में होने वाली बुद्धि इन चारों प्रकार की बुद्धियों से भिन्न होती है। इसी प्रकार नट में जो राम-बुद्धि होती है वह 1. सम्यक्, 2. मिथ्या, 3. संशय तथा 4. सादृश्य इन चारों प्रकार की प्रतीतियों से विलक्षण होती है।

2-रस की अनुमिति में राम-सीता आदि विभावों की प्रतीति तो चित्रतुरग-न्याय से होती ही है, उसके अतिरिक्त जिन अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव रूप लिङ्गों से उनमें 'इयं सीता रामविषयक रतिमती, तस्मिन् विलक्षणस्मितकटाक्षादिमत्त्वात्' इस प्रकार का अनुमान होता है, वे लिङ्ग भी यथार्थ नहीं हैं। यथार्थ स्मित-कटाक्षादि अनुभाव तो यथार्थ सीता-राम आदि में ही रहे होंगे। पर यहाँ चित्रतुरग-न्याय से उपस्थित सीता-राम रूप नट में यथार्थ स्मित-कटाक्षादि नहीं हैं। नट अपने शिक्षा और अभ्यास से कृत्रिम स्मित-कटाक्षादि का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार कृत्रिम आलम्बन रूप सीता-राम आदि में नटों द्वारा कृत्रिम रूप से प्रकाशित स्मित-कटाक्षादि से 'इयं सीता रामविषयक-रतिमती' या 'अयं रामः सीताविषयकरतिमान् तत्र विलक्षणस्मित-कटाक्षादिमत्त्वात्' इस प्रकार आनुमानिक रस की प्रतीति होती है।

3-इसलिए भरत के रस सूत्र में प्रयुक्त 'संयोगात्' शब्द का अर्थ 'गम्यगमकभावसम्बन्धात्' होता है।

4-इसलिए आनुमानिक रस की प्रतीति का आधार भी सामाजिक नहीं होता है। कृत्रिम राम और सीता में रहने वाली रति या रस का सामाजिक को केवल अनुमान होता है।

5-सामान्यतः अनुमान आदि प्रमाणों से होने वाले ज्ञान 'परोक्ष' रूप माने जाते हैं। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही 'अपरोक्ष' प्रतीति होती है। परन्तु इस रसानुमिति में विशेषता यह है कि वह अनुमिति होने पर भी अन्य अनुमितियों से भिन्न और 'अपरोक्ष' रूप होती है। इसलिए उस अनुमित रस का भी सामाजिक को आस्वाद होता है।

6-सामाजिक के रसास्वाद का कारण उसकी वासना और रस प्रतीति में विलक्षण अपरोक्षता की कल्पना है। वस्तुतः अनुमित रस न सामाजिक में रहता है और न कृत्रिम रामादि में रहता है, परन्तु वासना के बल से सामाजिक में न रहनेवाले और नट में भी वस्तुतः अविद्यमान किन्तु अनुमीयमान रस का सामाजिक को आस्वाद होता है।

शंकुक के 'अनुमितिवाद' को न्यायमतानुसारी सिद्धान्त माना गया है। इसका कारण उसका अनुमिति-प्रधान होना ही है। न्यायशास्त्र अनुमिति-प्रधान शास्त्र है। विशेष रूप से नव्य-न्याय के आचार्यों ने तो अपनी सारी शक्ति अनुमान के परिष्कार में ही लगा दी थी।न्याय की इस 'अनुमितिप्रधान' प्रक्रिया के आधार पर ही शंकुक ने अपने 'अनुमितिवाद' की स्थापना की है। इसीलिए उसको न्याय मतानुसारी सिद्धान्त कहा जाता है।

'शंकुक' के मत में चतुर्विध प्रतीतियों में से सम्यक् प्रतीति का प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकारों ने 'राम एवायम्', 'अयमेव रामः' इन दो वाक्यों का प्रयोग किया है। इनमें वस्तुतः 'एव' पद का दो प्रकार से प्रयोग किया गया है। 'राम एवायम्' और 'अयमेव रामः' इन दोनों वाक्यों में 'रामः' विशेषण पद है, 'अयम्' विशेष्य पद है। इनमें से प्रथम वाक्य में विशेषणभूत 'रामः' पद के साथ 'एवकार' का प्रयोग किया गया है और 'अयमेव रामः' इस दूसरे वाक्य में 'अयम्' इस विशेष्य पद के साथ 'एवकार' का प्रयोग किया है। पहले वाक्य में 'रामः' इस विशेषण पद के साथ एवकार को मिलाकर 'राम एवायम्' यह प्रयोग किया गया है। 'विशेषणसङ्गतः एवकारः अयोगव्यवच्छेदकः' इस नियम के अनुसार वह विशेष्यभूत 'अयम्' पद के अर्थ में 'रामत्व' के अयोग का व्यवच्छेद कर उसमें 'रामत्व' का नियमन करता है-अर्थात् 'यह राम से भिन्न नहीं है।' दूसरे वाक्य में विशेष्यभूत 'अयम्' के साथ प्रयुक्त 'एवकार' अन्य योग का व्यवच्छेदक होता है। अर्थात् विशेष्य से भिन्न किसी अन्य पदार्थ में विशेषणीभूत धर्म के सम्बन्ध का निवारक होता है। इसलिए वहाँ विशेष्यभूत 'अयम्' के साथ प्रयुक्त 'एवकार' इससे भिन्न अर्थ में 'रामत्व' के सम्बन्ध का निवारण करता हुआ 'यही राम है, अन्य कोई राम नहीं' इस प्रकार 'अयम्' में रामत्व का नियमन करता है। 'राम एवायम्' और 'अयमेव रामः' ये दोनों अंश मिलकर सम्यक् प्रतीति का प्रदर्शन करते हैं। **'एवकारस्त्रिधा मतः'**

'अयोगमन्ययोगं च अत्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः।।'

इस 'एव' का प्रयोग तीन प्रकार से होता है और उन तीनों में उसके अर्थ में भेद हो जाता है। वह कभी विशेषण के साथ प्रयुक्त होता है, कभी विशेष्य के साथ और कभी क्रिया के साथ। विशेष्य के साथ प्रयोग होने पर वह अन्य-योग का व्यवच्छेदक होता है (विशेष्यसङ्गतस्त्वेवकारो अन्ययोगव्यवच्छेदकः) जैसे 'पार्थ एवं धनुर्धरः'। यहाँ पार्थ विशेष्य है उसके साथ प्रयुक्त एवकार अन्य योगा का व्यवच्छेदक होता है। अर्थात् वह विशेष्य पार्थ से अन्य में विशेषण 'धनुर्धर' के सम्बन्ध का निषेध करता है। 'पार्थ एव धनुर्धरो नान्यः' (पार्थ ही धनुर्धर है अन्य नहीं) यह उसका भावार्थ होता है। विशेषण के साथ प्रयुक्त 'एव' अयोगव्यवच्छेदक होता है (विशेषणसङ्गतस्त्वेवकारो अयोगव्यवच्छेदकः) जैसे 'पार्थो धनुर्धर एव' यहाँ विशेषा धनुर्धर के

साथ प्रयुक्त 'एव' विशेष्य में विशेषण के अयोग अर्थात् सम्बन्धाभाव का निषेध करता है और 'पार्थ धनुर्धर ही है' इस रूप में उसमें धनुर्धरत्व का नियमन करता है। इसी प्रकार ब 'एव' क्रिया के साथ अन्वित होता है तब अत्यन्ता योग का व्यवच्छेदक होता है। जैसे 'नीलं कमलं भवत्येव' इस वाक्य में 'भवति' क्रिया के साथ अन्वित एवकार कमल में नीलत्व के अत्यन्त असम्बन्ध का निषेधक है। यहाँ वह न तो सब कमलों में नीलत्व के सम्बन्ध को नियमित करता है और न कमल भिन्न में अनीलत्व के सम्बन्ध को, किन्तु किसी विशेष कमल में नीलत्व के सम्बन्ध को नियमित करता है। इस प्रकार एव के तीन प्रकार के प्रयोग होते हैं।

श्री शंकुक के मत में न्युन्ता—

श्री शंकुक ने सामाजिक में रस प्रतीति बताने का प्रयत्न अवश्य किया है, परन्तु वह पर्याप्त रूप से सन्तोषजनक नहीं है। उनकी प्रक्रिया के अनुसार सामाजिक को कृत्रिम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के साथ कृत्रिम स्थायिभाव के सम्बन्ध से नट में कृत्रिम राम-सीतादि विषयक रति का अनुमान होता है। परन्तु उससे सामाजिक की रसानुभूति की समस्या हल नहीं होती है। सामाजिक को रस का साक्षात्कार होता है इसका उपपादन करना चाहिये। रसानुभव में इस प्रकार की साक्षात्कारात्मक प्रतीति का उपपादन अनुमान के द्वारा नहीं किया जा सकता है। अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष होता है, साक्षात्कारात्मक नहीं। फिर वह अनुमिति भी कैसी, जिसमें सब-कुछ कृत्रिम है। इसलिए अनुमितिवाद के आधार पर रसास्वादन का ठीक तरह से उपपादन नहीं किया जा सकता है। यही अनुमितिवादक का सबसे बड़ा दोष है।

2.भट्टनायक का भुक्तिवाद—

'न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाथ्भिव्यज्यते अपितु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विज्ञावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी, सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते' इति भट्टनायकः।

भरतमुनि के सूत्र के तीसरे व्याख्याकार भट्टनायक हैं उन्होने सामाजिक को होने वाली साक्षात्कारात्मक रसानुभूति के उपपादन के लिए एक नये ही मार्ग का अवलम्बन किया है। उसे साहित्यशास्त्र में 'भुक्तिवाद' नाम से कहा जाता है। उसका आशय यह है कि रस की 'निष्पत्ति' न अनुकार्य राम आदि में होती है और न अनुकर्ता नट आदि में। अनुकार्य और अनुकर्ता दोनों तटस्थ हैं, उदासीन हैं। उनको रसानुभूति नहीं होती है। वास्तविक रसानुभूति सामाजिक को होती है। उसका उपपादन अन्य किसी व्याख्याकार ने नहीं किया है। भट्टलोल्लट ने मुख्य रूप से 'तटस्थ' राम आदि में गौण रूप से 'तटस्थ' नट में रस की 'उत्पत्ति' मानी है। पर इसमें सामाजिक का स्थान कहीं नहीं आया है। अतएव 'ताटस्थ्येन रसोत्पत्ति' मानने वाले भट्टलोल्लट का सिद्धान्त ठीक नहीं हैं। श्री शंकुक ने 'तटस्थ' नट में रस की 'अनुमिति' (प्रतीति) मानी है और उसके द्वारा संस्कारवश सामाजिक की रस-चर्वणा का उपपादन करने का यत्न किया है। परन्तु 'अनुमिति' तो केवल परोक्ष-ज्ञानरूप होती है। साक्षात्कारात्मक रसानुभूति की समस्या उसके द्वारा हल नहीं हो सकती है। इसलिए यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। 'न ताटस्थ्येन रस उत्पद्यते, न प्रतीयते' ताटस्थ्य से अर्थात् अनुकार्यगत या अनुकर्तृगत रूप से न रस की उत्पत्ति होती है और न प्रतीति या अनुमिति होती है। यहाँ 'न उत्पद्यते' में भट्टलोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' का और 'प्रतीयते' से शंकुक के 'अनुमितिवाद' का निराकरण किया गया है।

भट्टनायक नें रस की स्थिति 'तटस्थ' राम या नट आदि में न मानकर 'आत्मगत' अर्थात् सामाजिकगत मानी है। भट्टनायक ने 'उत्पत्तिवाद', 'अनुमितिवाद' और 'अभिव्यक्तिवाद' तीनों

का खण्डन करके अपने 'भुक्तिवाद' की स्थापना की है और उसी को रसानुभूति की समस्या का सबसे सुन्दर समाधान माना है।

भट्टनायक ने अपने 'भुक्तिवाद' की स्थाना करने के लिए शब्द में स्वीकृत अभिधा और लक्षणा शक्ति के अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नये व्यापारों की कल्पना की है। उनके मतानुसार अभिधा या लक्षणा से काव्य का जो अर्थ उपस्थित होता है उसको शब्द का 'भावकत्व' व्यापार परिष्कृत कर सामाजिक के उपभोग के योग्य बना देता है। काव्य से जो अर्थ अभिधा द्वारा उपस्थित होता है वह एक विशेष नायक और विशेष नायिका की प्रेमकथा आदि के रूप में व्यक्ति विशेष से सम्बद्ध होता है। इस रूप में सामाजिक के लिए उसका कोई उपयोग नहीं होता है। शब्द का 'भावकत्व' व्यापार इस कथा में परिष्कार कर उसमें से व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध को हटाकर उसका 'साधारणीकरण' कर देता है। उस साधारणीकरण के बाद सामाजिक का उस कथा के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अपनी रुचि या संस्कार के अनुरूप सामाजिक उस कथा का एक पात्र स्वयं बन जाता है। इस प्रकार असली नायक-नायिका आदि की जो स्थिति उस कथा में थी, 'साधारणीकरण' व्यापार के द्वारा सामाजिक को लगभग वही स्थान मिल जाता है। यह शब्द के 'भावकत्व'; नामक दूसरे व्यापार का प्रभाव हुआ।

भट्टनायक के मत में इस 'भावकत्व' व्यापार से काव्यार्थ का 'साधारणीकरण' हो जाता है तब शब्द का 'भोजकत्व' नाकम तीसरा व्यापार सामाजिक को रस का साक्षात्कारात्मक 'भोग' करवाता है। यही भट्टनायक का 'भोजकत्व' सिद्धान्त है, जो 'भुक्तिवाद' कहलाता है। इस प्रकार भट्टनायक ने शब्द में अभिधा, लक्षणा आदि के अतिरिक्त 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो नवीन व्यापारों की कल्पना कर सामाजिक की रसानुभूति का उपपादन करने का प्रयत्न किया है। आचार्य मम्मट ने उनके सिद्धान्त का उल्लेख इस प्रकार किया है -

न तटस्थ रूप से (अर्थात् नटगत या अनुकार्यगत रूप से) रस की प्रतीति (अर्थात् अनुमिति) होती है और न उत्पत्ति होती है (क्योंकि तटस्थगत रस की उत्पत्ति या अनुमिति मानने से सामाजिक को रस का आस्वादन नहीं हो सकता है) और न सामाजिकगत रूप से (आत्मगतत्वेन रस की) अभिव्यक्ति होती है (क्योंकि 'अभिव्यक्ति' सदा पूर्व से विद्यमान अर्थ की होती है। रस केवल अनुभूति स्वरूप ही है। अनभति से भिन्न काल में उसकी स्थिति नहीं है। इस प्रकार 'नोत्पद्यते' से भट्टलोल्लट के मत का, 'न प्रतीयते' से श्री शंकुक के मत का तथा 'नाभिव्यज्यते' पद वसे आगे दिखाये जाने वाले अभिनवगुप्त के मत का, सब का ही निराकरण कर दिया गया है। तब भट्टनायक के मत में सामाजिक को रसास्वादन कैसे होता है यह आगे बतलाते हैं। अपितु काव्य अथवा नाटक में (शब्द के) अभिधा (तथा लक्षणा) से भिन्न विभावादि के साधारणीकरण स्वरूप 'भावकत्व' नामक व्यापार से (विशेष सीता-राम आदि के सम्बन्ध के बिना 'भाव्यमानः' अर्थात्) साधारणीकृत (रत्यादि) स्थायिभाव (योगाभ्यास आदि काल में) सत्त्व (गुण) के उद्रेक से (ब्रह्मानन्द सदृश) प्रकाश और आनन्दमय अनुभूति की (वेद्यान्तर-सम्पर्क-शून्य रूप से) स्थिति के सदृश (अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कारजन्य आनन्दानुभूति के सदृश) भोग से (अर्थात् शब्द के 'भोजकत्व' नामक व्यापार से 'भुज्यते' अर्थात्) आस्वादित किया जाता है यह भट्टनायक का मत है। (इस मत में सूत्र के 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ 'भुक्ति' है और 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध' है)।

भट्टनायक के इस 'भुक्तिवाद' को व्याख्याकारों ने सांख्यमतनुयायी सिद्धान्त माना है। इस सिद्धान्त को सांख्य-सिद्धान्त का अनुगामी इस रूप में कहा जा सकता है कि जैसे सांख्य में

सुख-दुःख आदि वस्तुतः अन्तःकरण के धर्म है, आत्मा के धर्म नहीं, परन्तु पुरुष का अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होने से पुरुष में उनकी औपाधिक प्रतीति होती है, उसी प्रकार सामाजिक में न रहने वाले रस का भोग उसको होता है इस सादृश्य के आधार पर ही इस सिद्धान्त को सांख्य-सिद्धान्त का अनुगामी कहा जा सकता है।

भट्टनायक के मत में कमी—

भट्टनायक ने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा सामाजिकगत रसानुभूति के उपपादन का अच्छा प्रयत्न किया है। पर उसमें उन्होंने शब्द में 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' नामक जिन दो नवीन-व्यापारों की कल्पना की है वे अनुभवसिद्ध नहीं हैं और जिस स्थायिभाव का 'भोग' बतलाया है वह राम-सीतादिगत स्थायिभाव है या नटगत या सामाजिकगत, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। इसलिए मुख्य रूप से अप्रामाणिक 'भोजकत्व' व्यापार पर आश्रित होने से भट्टनायक का 'भुक्तिवाद' विद्वानों में आदर प्राप्त न कर सकता।

4.अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिक विभावादिशब्दव्यावहाय्यैर्ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, नममैवैते,नशत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते, इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मकतया स्थितः स्थायी रत्यादि को निपयमप्रमातृगतत्वेनस्थितोपि साधारणोपायबलात्तत्कालविगलित परिमितप्रमातृभाव वशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्र सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभि"पि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणः, विभावादिजीवितावधिः, पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङगीणमिवालिङ्गन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद्, ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्, अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

सर्वप्रमुख व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है। जिस प्रकार भट्टलोल्लट ने उत्तरमीमांसा के, श्री शंकुक ने न्याय के और भट्टनायक ने सांख्य के आधार पर अपने-अपने मतों की स्थापना की है, उसी प्रकार अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती अलङ्कारशास्त्र के प्रमुख ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के आधार पर अपने 'अभिव्यक्तिवाद' का प्रतिपादन किया है इसलिए उनका मत आलङ्कारिक मत कहा गया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से सामाजिकगत रसानुभूति के उपपादन के लिए दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया है। उसमें पहली बात उन्होंने यह स्पष्ट कर दी है कि सामाजिकगत स्थायिभाव ही रसानुभूति का निमित्त होता है। मूल मनःसंवेग अर्थात् वासना या संस्कार रूप में रति आदि स्थायिभाव सामाजिक की आत्मा में स्थित रहता है। वह साधारणीकृत रूप से उपस्थित विभावादि-सामग्री से अभिव्यक्त या उद्बुद्ध हो जाता है और तन्मयीभाव के कारण वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य ब्रह्मास्वाद के सदृश परमानन्द रूप में अनुभूत होता है। इस मत में भट्टनायक के समान शब्द में 'भावकत्व' तथा 'भोजकत्व' रूप दो व्यापारों की कल्पना नहीं की गयी है, परन्तु 'भावकत्व' व्यापार के स्थान पर 'साधारणीकरण' व्यापार, अभिधा तथा लक्षणा के साथ शब्द की 'व्यञ्जना' नामक तृतीय वृत्ति मानी गयी है। अभिनवगुप्त के इस सिद्धान्त को मम्मट के काव्यप्रकाश में निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया है -

लोक में प्रमदा आदि (अर्थात् प्रमदा, उद्यान, कटाक्ष आदि विभाव, अनुभावादि के देखने) से (उन प्रमदादि में रहने वाले रति आदि रूप) स्थायी (भावों) के अनुमान करने में निपुण

सहृदयों का, काव्य तथा नाटक में कारणत्व (कार्यत्व तथा सहकारित्व) आदि को छोड़कर विभावन आदि व्यापार (रत्यादीनाम् आस्वादयोग्यतानयनरूपाविर्भावनं विभावनम् अर्थात् रत्यादि को आस्वाद योग्य रूप प्रदान करना 'विभावन व्यापार' कहलाता है आदि पद से 'अनुभावन' तथा 'व्यभिचारण' व्यापार का भी संग्रह होता है। इस प्रकार के आस्वाद योग्य रत्यादि को 'अनुभवविषयकरणनुभावनम्' अनुभव का विषय बनाना 'अनुभावन' तथा 'काये विशेषेण अभितः रत्यादीनां सञ्चारणं व्यभिचारणम्' शरीर में रति आदि के प्रभाव का सञ्चारण 'व्यभिचारण' व्यापार) से युक्त होने से विभावादि शब्दों से व्यवहार्य उन्हीं (प्रमदादि रूप कारण, कार्य, सहकारियों) से (जो) 'ये मेरे ही हैं' या 'शत्रु के ही हैं' या 'तटस्थ के ही है' अथवा 'ये न मेरे ही हैं', 'न शत्रु के ही हैं' और 'न तटस्थ के ही हैं' इस प्रकार के सम्बन्ध विशेष का स्वीकार अथवा परिहार करने के नियम का निश्चय न होने से साधारण (अर्थात् विशेष व्यक्ति के सम्बन्ध से रहित) रूप से प्रतीत होने वाले (उन विभावादि) से ही अभिव्यक्त होने वाला और सामाजिकों में वासना रूप से विद्यमान रति आदि स्थायी (भाव) नियत प्रमाता (अर्थात् विशिष्ट एक सामाजिक) में स्थित होने पर भी साधारणोपाय (अर्थात् व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध के बिना प्रतीत होने वाले विभावादि) के बल से उसी (रसानुभव के) काल में (मैं ही इसका आस्वादनकर्ता हूँ, या ये विभावादि मेरे ही हैं, इस प्रकार के व्यक्तिगत भावनाओं रूप) परिमित प्रमातृ भाव के नष्ट हो जाने से वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य और अपरिमित प्रमातृभाव जिसमें उदित हो गया है इस प्रकार के (प्रमाता) सामाजिक के द्वारा समस्त (सामाजिकों के) हृदयों के साथ समान रूप से (व्यक्ति विशेष के सम्बन्ध से रहित साधारण्य से) अपनी आत्मा के समान (आस्वाद से) अभिन्न होने पर भी, (आस्वाद का) विषय होकर, (अर्थात् जैसे आत्म-साक्षात्कार में चिद् रूप से अभिन्न आत्मा को भी साक्षात्कार का 'विषय' माना जाता है, इसी प्रकार रसानुभूति में अनुभूति से अभिन्न होने पर भी रस को ('विषय' कहा जा सकता है), आस्वाद मात्र स्वरूप (चर्व्यमाणतैकप्राणः), विभावादि की स्थितिपर्यन्त ही रहने वाला, (इलायची, कालीमिर्च, शक्कर, इमली, आम आदि को मिलाकर तैयार किये गये प्रपाणक अर्थात्) पने के रस के समान (अर्थात् प्रपाणक की घटक सामग्री के रस से विलक्षण रस के समान) आस्वाद्यमान, साक्षात् प्रतीत होता हुआ सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा, समस्त अङ्गों का आलिङ्गनकरता हुआ सा, अन्य सब को तिरोभूत करता हुआ सा,ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव कराता हुआ सा, अलौकिक आनन्द को प्रदान करने वाला (चमत्कारी) शृङ्गार आदि 'रस' होता है। यह अभिनवगुप्त का मत है और यह आलङ्कारिकों का सिद्धान्त माना जाता है।

रस के अलौकिकता की सिद्धि—

अभिनवगुप्त ने यहाँ रस को 'अलौकिक' कहा है, अर्थात् वह लौकिक अन्य वस्तुओं से भिन्न प्रकार का है। उसकी इस अलौकिकता का उपपादन ग्रन्थकार ने अगले अनुच्छेद में किया है। लोक में पायी जाने वाली अनित्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं - एक 'कार्य' रूप और दूसरी 'ज्ञाप्य' रूप। घट, पट आदि 'कार्य' पदार्थ हैं। ये किसी कारण से उत्पन्न होते हैं इसलिए 'कार्य' कहलाते हैं और इनका जनक 'कारण' या 'कारक' कहलाता है। दूसरे प्रकार से ये पदार्थ ज्ञान के 'विषय' या 'ज्ञाप्य' होते हैं; जैसे दीपक के प्रकाश से घट का ज्ञान होता है इसलिए दीपक के द्वारा घट 'ज्ञाप्य' ह। पूर्वसिद्ध पदार्थ का जब किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है तो वह पदार्थ 'ज्ञाप्य' कहलाता है और जो पदार्थ पूर्वसिद्ध नहीं है, कारण के व्यापार के बाद उसकी उत्पत्ति होती है वह 'कार्य' कहलाता है। संसार के सारे अनित्य पदार्थ 'कार्य' और 'ज्ञाप्य' दो वर्गों में ही

अवश्य अन्तर्भूत हो जाते हैं। परन्तु रस को न 'कार्य' कहा जा सकता है और न 'ज्ञाप्य'। 'कार्य' तो इसलिए नहीं हो सकता है कि 'कार्य' पदार्थ अपने निमित्त का नाश हो जाने पर भी बने रहते हैं; जैसे, कुम्हार का बनाया हुआ घड़ा कुम्हार के मर जाने के बाद भी बना रह सकता है। यदि रस को 'कार्य' माना जाय तो उसके निमित्तकारण विभावादि ही होंगे। इसलिए विभावादि का नाश हो जाने के बाद भी उसकी प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु विभावादि के नाश के बाद रस की प्रतीति नहीं होती है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने 'विभावादिजीवितावधिः' इस विशेषण का प्रयोग ऊपर किया है। इसलिए रस को 'कार्य' नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार रस 'ज्ञाप्य' भी नहीं है, क्योंकि 'ज्ञाप्य' पदार्थ ज्ञान होने के पूर्व भी विद्यमान होता है और बाद को भी विद्यमान रहता है। परन्तु रस की सत्ता न अनुभव से पूर्व काल में रहती है और न अनुभव के बाद। जब तक रस की अनुभूति होती है तब तक ही उसकी सत्ता रहती है। इसलिए वह 'कार्य' तथा 'ज्ञाप्य' दोनों प्रकार के लौकिक पदार्थों से भिन्न है। इसी कारण रस 'अलौकिक' कहा जाता है।

अलौकिकता की दूसरी युक्ति—

एक प्रश्न उपस्थित होता है कि आप रस को न 'कार्य' मानते हैं और न 'ज्ञाप्य'। फिर भी यह कह रहे हैं कि वह विभावादि से व्यञ्जित होकर चर्वण योग्य होता है। ये दोनों बातें कैसे सङ्गत हो सकती हैं। क्योंकि संसार में दो ही प्रकार के कारण होते हैं, एक 'कारक' दूसरे 'ज्ञापक'। जब रस 'कार्य' नहीं है तो उसका कोई 'कारक' हेतु नहीं हो सकता है और इसके 'ज्ञाप्य' न होने से उसका कोई 'ज्ञापक' हेतु भी नहीं हो सकता है। इन 'कारक' तथा 'ज्ञापक' हेतुओं के अतिरिक्त और कोई तीसरा हेतु होता ही नहीं है तो विभावादि रस के 'व्यञ्जक' कैसे हो सकते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि इसीलिए तो हम रस को 'अलौकिक' कहते हैं। लोक में जो 'कारक' तथा 'ज्ञापक' दो प्रकार के हेतु पाये जाते हैं, रस के 'व्यञ्जक' हेतु विभावादि उन दोनों से विलक्षण अतएव 'अलौकिक' हैं। इसलिए यह अलौकिकत्व सिद्धि का भूषण है, दूषण नहीं। पहले ही यह कहा गया था कि रस न 'कार्य' है न 'ज्ञाप्य', इससे रस की अलौकिकता सिद्ध होती है। इस बार यह कहा है कि रस का हेतु न 'कारक' हेतु है, न 'ज्ञापक' हेतु। यह हेतु की अलौकिकता को सिद्ध करता है। इस प्रकार हेतु की अलौकिकता से भी रस की अलौकिकता सिद्ध हो जाती है।

अभ्यास प्रश्न

1-प्रश्न-शृङ्गार रस से किसकी उत्पत्ति होती है?

2-प्रश्न-रौद्र रस से किस रस की उत्पत्ति होती है?

3-प्रश्न-रसानुभूति के कारणों को क्या कहते हैं?

4-प्रश्न-'भुक्तिवाद' को व्याख्याकारों ने किस सिद्धान्त को माना है?

5-प्रश्न-'अभिनवगुप्त ने किसकी स्थापना की है।

1.4 सारांश

इस इकाई में रसोत्पत्तिवाद विभिन्नमतों का सांगोपांग वर्णन किया गया है। काव्यप्रकाश' का यह प्रकरण साहित्यशास्त्र के इतिहास में सामाजिक गत रसनिष्पत्ति के सिद्धान्त का द्योतक है। भरत सूत्र की व्याख्या में जो अनेक मत पाये जाते हैं उनका संग्रह काव्यप्रकाशकार ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। यह प्रकरण यद्यपि काव्यप्रकाशकार ने 'अभिनवभारती' से लिया है, परन्तु उन्होंने 'अभिनवभारती' के अत्यन्त विस्तृत एवं जटिल

विवेचन को संक्षिप्त एवं अपेक्षाकृत सरल रूप में प्रस्तुत करने का यत्न किया है। इन मतों में से अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा प्रतिपादित मत ही काव्यप्रकाशकार का अभिमत सिद्धान्त पक्ष है।

1.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
व्याघ्रादयो	व्याघ्र आदि
विभावा	विभाव
भयानकस्येव	भयानक ही
शृङ्गारस्येव	शृङ्गार ही
करुणभयानकयोः	करुण और भयानक
चिन्तादयो	चिन्ता आदि
व्यभिचारिणः	व्यभिचारी
कारणैः	कारणों से
प्रकाशयन	प्रकाशित करते हुए
लोके यः	लोक में जो
काव्यनाट्ययोः	काव्य और नाटक का

1.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर - शृङ्गार रस से हास्य की उत्पत्ति होती है।
उत्तर - रौद्र रस से करुण रस की उत्पत्ति होती है।
उत्तर - रसानुभूति के कारणों को 'विभाव' कहते हैं।
उत्तर - 'भुक्तिवाद' को व्याख्याकारों ने सांख्यमतानुयायी सिद्धान्त को माना है।
उत्तर - अभिनवगुप्त ने 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है।

1.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1-संस्कृत साहित्य का इतिहास . बलदेव उपाध्याय प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तुरवानगर सिगरा वाराणसी भारती वाराणसी
2-काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

1.8 उपयोगी पुस्तकें

1-काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

1.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. शृङ्गार रस के विषय में परिचय दीजिये।
2.अभिव्यक्तिवाद की व्याख्या कीजिए।
3.शंकुक के मत की विवेचना कीजिए।

इकाई 02. रस भेद उदाहरण सहित व्याख्या

इकाई की रूप रेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 रस भेद उदाहरण सहित व्याख्या
2.4 सारांश
2.5 शब्दावली
2.6 अभ्यासार्थ प्रश्न - उत्तर
2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.8 उपयोगी पुस्तकें
2.9 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड दो की दूसरी इकाई है। इस इाकई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि साहित्य में रस के कितने भेद बताये गये है। काव्य और नाटक में अलग - अलग रूप से रस भेदों के कहा गया है ! साहित्य जगत में मूलतः काव्य के लिये नौ रसों की संकल्पना है किन्तु नाटकों के लिये अति प्रसि'द्ध विचारकों ने भी आठ ही रस माने हैं।

सबसे पहले भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में आठ रसों को स्थान दिया जो नाटकों में प्रयुक्त होते हैं। परवर्ती आचार्यों ने काव्य की सीमा में शान्तोऽपि नवमो रसः की बात स्वीकार किया है, और अष्टौ नाट्ये रसास्मृताः को माना। जो संकल्पना आचार्य भरत की थी उसी का प्रतिपद अनुकरण करके आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में रस भेदों का निरूपण किया, जो इस इकाई में आपके अध्ययनार्थ प्रस्तुत है।

अतः प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप काव्य और नाटक में अलग - अलग रसों के प्रयोग और इनके महत्व को समझा सकेगें।

2.2 उद्देश्य

रस भेद के वर्णन से सम्बन्धित इस इकाई का सम्यक् अध्ययन कर लेने के बाद आप-

- ❖ रस भेद को बता सकेगें।
- ❖ काव्य और नाटक में किन - किन रसों का प्रयोग होता है, इसे समझा सकेगें।
- ❖ किस रस से किस रस की उत्पत्ति होती है यह भी बतायेगें।
- ❖ आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में रसों का निरूपण किस आधार पर किया है यह भी समझा सकेगें।
- ❖ रसों की महत्ता बता सकेगें।
- ❖ रसों की परिभाषायें और इनके उदाहरण भी समझा सकेगें।

2.3 रसभेद उदाहरण सहित व्याख्या

(सू0 44) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।।29।।

रस के (आठ) भेद - (सूत्र 44) -1. शृङ्गार, 2. हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. वीभत्स और 8. अद्भुत , नाट्य में ये आठ रस माने जाते हैं।। 29 ।।

रसों का यही विशेष क्रम क्यों रखा गया है ? इसका उत्तर यह है कि उक्त कारिका मूल रूप से भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की है। मम्मट ने इसे भरत के नाट्यशास्त्र अ. 6-16 से ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। इसमें विशेषतः नाट्यगत आठ रसों का क्रमशः उद्देश अर्थात् नाम मात्र से कथन किया गया है। भरतमुनि ने इन आठों रसों का जो इस विशेष क्रम से कथन किया है उसका विशेष प्रयोजन है। इसे स्पष्ट करने के लिए 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने लिखा है -

तत्र कामस्य सकलजातिसुलभतयात्यन्तपरिचितत्वेन सर्वान् प्रति हृद्यतेति पूर्व शृङ्गारः। तदनुगामी च हास्यः। निरपेक्षभावत्वात् तद्विपरीतस्ततः करुणः। ततस्तन्निमित्तं रौद्रः। स चार्थप्रधानः। ततः कामार्थयोर्धर्ममूलत्वाद्वीरः सहिधर्मप्रधानः। तस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात्। तदन्तरं भयानकः। तद्विभावसाधारण्यसम्भावनात्ततो वीभत्सः। वीरस्य पर्यन्तेद्भुतः। यद्वीरेण आक्षिप्तं फलमित्यनन्तरं तदुपादानम्।तथा

चवक्ष्यते-'पर्यन्ते कर्त्तव्यो नित्यं रसोद्भुतः' इति। ततस्त्रिवर्गात्मकप्रवृत्तिधर्मविपरीतनिवृत्तिधर्मात्मको मोक्षफलः शान्तः। तत्र स्वात्मावेशेन रसचर्वणा।

अर्थात् रति या काम न केवल मनुष्य-जाति में अपितु सभी जातियों में मुख्य प्रवृत्ति के रूप में पाया जाता है और सबको उसके प्रति आकर्षण होता है, इसलिए सबसे पहिले शृङ्गार को स्थान दिया गया है। हास्य शृङ्गार का अनुगामी है, इसलिए शृङ्गार के बाद हास्य रस को स्थान दिया गया है। सम्भोग शृङ्गार में नायक -नायिका का मिलन होता है इसलिए एक -दूसरे की अपेक्षा रहती है। विप्रलम्भशृङ्गार में भी दोनों को मिलन की आशा रहती है, अतः वे दोनों सापेक्ष आशामय रस हैं।

करुण रस की स्थिति हास्य से विपरीत है। इसलिए हास्य के बाद करुण रस को स्थान दिया गया है। अपने प्रियतम बन्धु के वास्तविक विनाश या भ्रमवश ही उसके विनाश का निश्चय हो जाने के बाद करुण रस की सीमा प्रारम्भ होती है, उसमें पुनर्मिलन की आशा नहीं रहती है। अतएव करुण रस नैराश्यमय होने से निरपेक्ष-रस माना जाता है। भवभूति ने 'तटस्थं नैराश्यात्' कहकर करुण रस के निराशात्मक स्वरूप को सूचित किया है। अतः आशामय सापेक्ष भाव से विपरीत नैराश्यमय-निरपेक्ष रस होने से शृंगार और उसके अनुगामी हास्य के बाद करुण रस को रखा गया है। करुण रस की सीमा मरण के बाद प्रारम्भ होती है। मरण का सम्बन्ध प्रायः रौद्र रस से होता है। इसलिए करुण रस का निमित्त रूप होने से करुण के बाद उससे सम्बद्ध रौद्र रस को स्थान दिया गया है। रौद्र रस अर्थ प्रधान होता है। काम और अर्थ के धर्ममूलक होने से रौद्र रस के बाद वीर रस रखा गया है। यह धर्मप्रधान होता है। वीर रस का मुख्य कार्य भयभीतों को अभय प्रदान करना है। इसलिए वीर के साथ उसके विरोधी भयानक रस को स्थान दिया गया है। उस भयानक रस के समान ही वीभत्स रस के विभाव होते हैं। क्योंकि वीर रस के प्रभाव से ही वीभत्स दृश्य उपस्थित होते हैं, इसलिए भयानक के बाद वीभत्स रस को रखा गया है। वीर के बाद में अद्भुत होता है। इसीलिए आगे कहा जायेगा कि अन्त में सदा अद्भुत रस को स्थान देना चाहिये। इसलिए वीर के बाद अद्भुत रस को रखा गया है। उसके बाद धर्म-अर्थ-काम-रूप त्रिवर्ग के साधनभूत प्रवृत्ति धर्मों से विपरीत निवृत्ति धर्म प्रधान और मोक्षफल वाला शान्तरस आता है। यद्यपि शान्त रस की गणना यहाँ नहीं की गयी है, परन्तु काव्य में शान्तरस भी माना जाता है। इसलिए सबसे अन्त में उसको स्थान दिया जा सकता है।

शान्त रस की स्थिति—

शान्त रस की स्थिति के विषय में न केवल आधुनिक विद्वानों में, किन्तु प्रचीन विद्वानों में भी, मतभेद पाया जाता है। इस मतभेद का मुख्य आधार भरतमुनि का यह 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' (6-16) श्लोक ही है। उसी को यहाँ काव्यप्रकाशकार ने भी रसों की संख्या का निरूपण करते हुए उद्धृत किया है। भरत के इसी वचन के आधार पर प्राचीन आचार्यों में महाकवि कालिदास, अमरसिंह, भामह और दण्डी आदि ने भी नाटक के आठ ही रसों का उल्लेख किया है तथा शान्त रस का प्रतिपादन नहीं किया है। इसके विपरीत उ॒ट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने स्पष्ट रूप से शान्त रस का प्रतिपादन किया है। बड़ौदा से प्रकाशित 'अभिनवभारती' व्याख्या से युक्त भरत-नाट्य शास्त्र के द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्री रामस्वामी शास्त्री शिरोमणि ने लिखा है कि शान्त रस की स्थापना सबसे पहिले भरत-नाट्यशास्त्र के टीकाकार उ॒टने अपने 'काव्यालङ्कारसंग्रह' नामक ग्रन्थ में की है। उसके बाद आनन्दवर्धन

तथा अभिनवगुप्त आदि ने उनका समर्थन किया है। उ˙ट के पहिले शान्त रस की कोई सत्ता नहीं मानी जाती थी। भरत-नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में भी शान्त रस का वणर्न पाया जाता है, परन्तु उसके विरोध में उक्त सम्पादक महोदय का मत है कि वह प्रक्षिप्त या बाद का बढ़ाया हुआ है। इस अंश को प्रक्षिप्त मानने के लिए उन्होंने दो हेतु दिये हैं। पहिला हेतु तो यह है कि भरतमुनि ने पहिले आठ ही रसों का उल्लेख किया है तब बाद में नवम रस का वर्णन उनके ग्रन्थ में नहीं होना चाहिये था। अतः यह अंश प्रक्षिप्त है। उनकी युक्ति यह है कि शान्त रस वाला यह प्रकरण 'नाट्यशास्त्र' की कुछ पाण्डुलिपियों में नहीं पाया जाता है। इसलिए वे इसको प्रक्षिप्त मानते हैं और शान्त रस की सत्ता न मानने वाले पक्ष के समर्थक हैं।

प्राचीन आचार्यों में शान्त रस के सबसे प्रबल विरोधी धनञ्जय और धनिक हैं। 'दशरूपक' तथा उसकी टीका, दोनों में बड़ी प्रौढ़ता के साथ शान्त रस का खण्डन किया गया है। उनके मत में नाट्य में आठ ही रस होते हैं। इसका अर्थ यह है कि नाट्य में शान्त रस होता ही नहीं है। शान्त रस को नाट्ï में स्थान न दिये जाने का कारण उसका अनभिनेयत्व है। जैसा कि अभी कहा है, शान्त रस निवृत्ति प्रधान है। अभिनय में प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है। निवृत्ति का अभिनय नहीं किया जा सकता है। इसलिए अभिनय के उपयोगी न होने से अभिनय प्रधान नाट्ï में शान्त रस को स्थान नहीं दिया जाता है। इसकी चर्चा करते हुए 'दशरूपक' के टीकाकार ने कुछ विस्तार के साथ इस प्रकार विवेचन किया है -

'शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।
निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः।।'

'इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः। केचिदाहुः-नास्त्येव शान्तो रसः, तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति, अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरवीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। यथा तथा अस्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनययोगात्।यत्तु कैश्चिन्नागा नन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितम्, तत्तु मलयवत्यनुरागेण आप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधर चक्रवर्तित्वप्राप्त्या च विरुद्धम्। नह्येकांनुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ। अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्।विरुद्वाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्। अत एव ते चिन्तादिस्वस्व व्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति।'

(दशरूपक 4/35, 36)

इसका अभिप्राय यह है कि शान्त रस को रस अथवा उसके स्थायिभाव शम को स्थायिभाव मानने में कई प्रकार के मतभेद पाये जाते हैं। उनमें एक मत यह है कि भरतमुनि ने उसके अनुभाव आदि का वर्णन नहीं किया है तथा उसका लक्षण नहीं किया है अतः शान्तरस नहीं है। दूसरा मत यह है कि वास्तम में शान्त रस बन ही नहीं सकता है। क्योंकि अनादि काल से चले आये रागद्वेष के संस्कारों का सर्वथा नाश नहीं किया जा सकता है। इसलिए निर्वेदरूप स्थायिभाव तथा शान्त रस का उपपादन नहीं किया जा सकता है। तीसरे विचारकों का मत है कि वीर, वीभत्स आदि रसों में उसका अन्तर्भाव किया जा सकता है। इन तीन मतों का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार कहते हैं कि इनमें कोई मत भी ठीक हो, हमें उसका विचार नहीं करना है। हमारा कहना तो यह है कि नाट्य में शम को स्थायिभाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि समस्त

व्यापारों के निवृत्तिरूप शम का अभिनय नहीं किया जा सकता है, इसलिए अभिनय प्रधान नाट्य में शान्त रस को स्थान नहीं दिया जा सकता है।

कुछ का यह मानना है कि यदि नाटक में शान्त रस का अभिनय नहीं हो सकता है, तो शान्त रस प्रधान 'नागानन्द' आदि नाटकों की रचना कैसे हुई ? उसका उत्तर दशरूपककार ने यह दिया है कि 'नागानन्द' में शान्त रस मानना उचित नहीं है, क्योंकि उसमें नायक का मलयवती के प्रति अनुराग का वर्णन सारे नाटक में पाया जाता है और अन्त में उसको विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा होने का अवसर प्राप्त होता है। इसलिए 'नागानन्द' का मुख्य रस शान्त रस नहीं है। अपितु दयावीर का उत्साह उसका स्थायिभाव है और वीररस की उसमें प्रधानता है। वीर रस केवल युद्धप्रधान ही नहीं है, उसका स्थायिभाव उत्साह है। वह उत्साह जैसे युद्ध के लिए हो सकता है उसी प्रकार दया और धर्म के प्रति भी हो सकता है। इसलिए 'नागानन्द' में दया-वीर प्रधान रस है; शान्त रस नहीं। किन्तु 'दशरूपक' के इस सारे विवेचन से केवल इतना ही सिद्ध है कि नाट्य में शान्त रस की उपयोगिता नहीं है। उससे शान्त रस का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता है। विशेषकर इस अवस्था में जब कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त, दोनों ने बड़े विस्तार के साथ शान्त रस की स्थापना की है। 'अभिनवभारती' में अभिनवगुप्त ने लगभग सौ पृष्ठों में अत्यन्त विस्तार के साथ शान्त रस का विवेचन किया है। आनन्दवर्धन ने भी 'ध्वन्यालोक' पृष्ठ 465 (दिल्ली-संस्करण) में 'महाभारत' का मुख्य रस शान्तरस माना है। इस प्रकार इन दोनों आचार्यों ने शान्त रस का प्रबल समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त भरतसूत्र के टीकाकार भट्टनायक ने भी शान्तरस की सत्ता स्वीकार की है। इसका परिचय 'अभिनवभारती' के प्रथम श्लोक की व्याख्या के प्रसङ्ग में भट्टनायक कृत व्याख्या के उद्धृत भाग से प्राप्त होता है। पृष्ठ 35 (दिल्ली-संस्करण) पर 'शान्तरसोपक्षेपोयं भविष्यति' यह भट्टनायक का वचन अभिनवगुप्त ने उद्धृत किया है। इन लेखों से यह स्पष्ट होता है कि भरत-नाट्यशास्त्र के भट्टो¯ट, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि सभी टीकाकार शान्त रस की स्थिति मानते हैं।

भक्तिरस—

इन नौ रसों के अतिरिक्त कुछ लोग भक्ति रस को भी अलग रस मानते हैं। इसकी स्थापना साहित्यिक क्षेत्र में न होकर धार्मिक क्षेत्र में हुई है। साहित्यशास्त्र में इसकी गणना देवादि विषयक रति के रूप में भावों में की गयी है। उसे रस नहीं माना है। किन्तु गौडीय वैष्णव उसको अलग रस ही नहीं, अपितु सर्वश्रेष्ठ रस मानते हैं। रूप गोस्वामी ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थों में भक्तिरस का प्रतिपादन बड़े विस्तार के साथ किया है। वे देवता विषयक रति को तो साहित्यशास्त्रियों के समान 'भाव' ही कहते हैं, किन्तु भक्तिरस का स्थायिभाव केवल श्री कृष्ण विषयक रति को मानते हैं। श्री कृष्ण देवता नहीं अपितु साक्षात् भगवान् हैं। इसलिए तद्विषयक रति देव विषयक रति से सर्वथा भिन्न है। इसीलिए 'भक्तिरस' 'भाव' के अन्तर्गत नहीं अपितु स्वतन्त्र रस है, ऐसा उनका मत है। भक्तिरस के उदाहरण के रूप में 'पद्माकर' के निम्नलिखित पद्य को जो काव्यप्रकाश में है ,उसे उद्धृत किया जा सकता है -

व्याधहुँ ते बेहद असाधु हौं अजामिल लौं,
ग्राह ते गुनाही, कैसे तिनको गिनाओगे,
स्योरी हौं न शूद्र, नहीं केवट कहीं को त्यौं,
न गौतमी-तिया जापै पग धरि आओगे,
रामसौं कहत पद्माकर पुकारि पुनि,

मेरे महा पापन को पार न पाओगे।
झूठो ही कलंक सुनि सीता जैसी सती तजी नाथ,
हौं तो साँचो ही कलङ्की ताहि कैसे अपनाओगे।

इस पद्य में कवि भगवान् के सामने अपने अपराधों को स्वीकार करता है और क्षमा की याचना के अभिप्राय से विनती कर रहा है। भगवान् राम आलम्बन-विभाव हैं तथा भगद्विषयक रति स्थायिभाव है।

वात्सल्यरस—

कुछ आचार्यों ने 'वात्सल्यरस' को भी अलग रस माना है। साहित्यशास्त्र के आचार्यों में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने विशेषतया स्वतन्त्र रस के रूप में वात्सल्य रस को प्रतिष्ठित किया है। हिन्दी कवियों में तुलसी तथा सूर की रचनाओं में इस रस का विशेष प्रभाव दिखलायी देता है। इसके उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया जा सकता है -

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं, कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं,
कबहूँ करताल बजाइके नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं।
कबहूँरिसिआय कहैं हठिकै, पुनि लेत वही जेहि लागि अरैं,
अवधेसके बालक चारि सदा, तुलसी मन मन्दिर में बिहरैं।।

छोटों के प्रति स्नेह इसका स्थायिभाव है। छोटे बालक आलम्बन-विभाव, बालकों की तोतली बोली, सौन्दर्य, क्रीड़ा आदि उद्दीपन और स्नेह से गोद में ले लेना, आलिङ्गन, चुम्बन आदि व्यभिचारिभाव हैं।

मूलरस—

यद्यपि विभिन्न आचार्यों ने आठ से लेकर ग्यारह तक रसों की संख्या मानी है, किन्तु इनमें भी अनेक आचार्यों ने प्रधानता और अप्रधानता की दृष्टि से अलग-अलग मूल रसों की कल्पना की है। स्वयं भरतमुनि आठ रसों में से शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को प्रधान मानकर शेष चार रसों की उत्पत्ति इन चार रसों से ही होती है इस बात का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं -

शृङ्गाराद्धि भेवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः वीभत्साच्च भयानकः।।
शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः।।
वीरस्यापि च यत्कर्म सोद्भुतः परिकीर्तितः।
वीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयः स त भयानकः।।

एकरसवादी मत—

अपनी-अपनी दृष्टि से किसी एक ही विशेष रस को मूल रस मानने की प्रवृत्ति भी साहित्यशास्त्र में पायी जाती है। इस विषय में निम्नलिखित मतों को उद्धृत किया जा सकता है।

(1) महाकवि भवभूति ने करुण रस को एकमात्र रस बतलाते हुए अपने करुणरस प्रधान नाटक 'उत्तमरामचरितम्' में लिखा है -

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान्

अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।।

(2) भोजराज ने (12वीं शता0) अपने 'शृङ्गारप्रकाश' नामक ग्रन्थ में शृङ्गार रस को ही एकमात्र मूल रस बतलाते हुए लिखा है -

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः।।

(3) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने पूर्वज नारायण पण्डित के केवल अद्भुत रस को ही मूल रस मानने का उल्लेख करते हुए लिखा है -

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।

(4) अभिनवगुप्त ने शान्त रस को ही एकमात्र मूल रस प्रतिपादन करते हुए 'अभिनवभारती' में लिखा है -

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते।।

आगे ग्रन्थकार इन सारे रसों के उदाहरण देंगे। इन उदाहरणों के साथ उस रस का परिचय देने के लिए उसके लक्षण आदि का वर्णन कर दिया जाता तो अच्छा होता, परन्तु काव्यप्रकाशकार ने उसको बिलकुल छोड़कर उदाहरण मात्र दे दिये हैं। 'साहित्यदर्पण' में नाट्यशास्त्र के आधार पर रसों का अच्छा परिचय दिया गया है।

रसों की सुख-दुःखरूपता रसों की अलौकिकता के साथ उनकी सुख-दुःखरूपता का प्रश्न भी प्राचीन साहित्यशास्त्रियों के लिए एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषय में प्रायः तीन प्रकार के मत पाये जाते हैं। धनिक, धनञ्जय और विश्वनाथ आदि, सभी रसों को नितान्त सुख रूप मानते हैं। इन लोगों ने करुण रस को भी सर्वथा सुखात्मक रस माना है। विश्वनाथ ने इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा है -

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।।
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोपि स्यात् तदुन्मुखः।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता।।सा0 द0 3-4, 5।।

विश्वनाथ आदि के सुखात्मतावाद के विपरीत अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रस को उभयात्मक रस माना है, अर्थात् प्रत्येक रस में सुख और दुःख दोनों का समावेश रहता है, किन्तु इनमें से शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत इन चार रसों में सुख की प्रधानता के साथ दुःख का अनुवेध रहता है। इसके विपरीत रौद्र, भयानक, करुण तथा वीभत्स इन चार रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का आंशिक अनुवेध रहता है। केवल शान्त रस को उन्होंने सर्वथा सुखात्मक रस माना है। इस विषय का प्रतिपादन अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में विस्तारपूर्वक किया है।

शृङ्गार रस और उसके भेद—

रसों में से शृङ्गार के दो भेद होते हैं-(1) सम्भोग (शृङ्गार) और (2) विप्रलम्भ। उनमें से पहिला (अर्थात् सम्भोग शृङ्गार) परस्पर अवलोकन, आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन आदि अनन्त प्रकार का असंख्येय हो जाता है, इसलिए उसके भेदों की गणना सम्भव न होने से एक ही गिना जाता है।

यथा -

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छन-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वण्य पत्युर्मुखम्।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता।।30।।

तथा -

त्वं मुगधाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्याभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः।।31।।

पति के बराबर अलग पलंग पर लेटी हुई नवोढ़ा नायिका ने वासगृह अर्थात् अपने लेटने के कमरे को शून्य (अर्थात् सखियों से खाली) देखकर अपनी खाट पर से तनिक-सा उठकर और नींद का बहाना कर के लेटे हुए पति के मुख को बहुत देर तक देखकर (ये सो रहे हैं ऐसा समझकर) निश्शंक भाव से चुम्बन कर लेने से उसके) पति के कपोल पर (प्रसन्नताजन्य) रोमाञ्च देखकर नायिका यह समझ गयी कि वे जग रहे थे। इसलिए उसका मुख लज्जा से झुक गया। उस लज्जा से नम्र मुखवाली बाला को (पकड़कर) हँसते हुए प्रियतम (नायक) ने बहुत देर तक चुम्बन किया।।30।।

यह सम्भोग शृङ्गार रस का उदाहरण है। नायक इसका आलम्बन है, शून्य वासगृह, उद्दीपन विभाव है। मुख-निर्वर्णन, चुम्बनादि अनुभाव तथा लज्जा, हास तथा उससे व्यङ्गi हर्षादि व्यभिचारिभाव हैं। रति स्थायिभाव है। उससे सामाजिक को रस की चर्वणा होती है। साहित्यशास्त्र में पहिले नारी के अनुराग का वर्णन उचित माना गया है। (पूर्व रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात्तदिङ्गितैः) इसी सिद्धान्त के अनुसार यहाँ सम्भोग शृङ्गार का यह उदाहरण दिया गया है। इसमें नायिका की प्रथम अनुरक्ति दिखलायी गयी है। आचार्य मम्मट ने यह पद्य 'अमरुकशतक' से लिया है। हिन्दी के महाकवि बिहारी ने अमरुक के इस पद्य का छायानुवाद एक दोहे में इस प्रकार किया गया है -

हौं मिसहा सोयो समुझि मुख चूम्यो ढिग जाय।
हस्यों, खिसानी, गर गह्यो, रही गले लपटाय।।

अमरुक के इस लम्बे पद्य के भाव को दोहे के छोटे से कलेवर में भरकर बिहारी ने अपने अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। इसीलिए बिहारी के दोहे के विषय में कहा गया है -

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर।।

अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः।

दूसरा (अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार) अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास तथा शाप (रूप पाँच प्रकार के हेतुओं) से होने के कारण पाँच प्रकार का होता है।क्रमशः उदाहरण दिये जा रहे हैं।

क्रमेणोदाहरणम् -

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी (क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः।।32।।

इस उदाहरण में प्रेम, प्रणय तथा परिचय शब्दों का प्रयोग किया गया है। वे सब लगभग एक अर्थ के वाचक हैं। किन्तु उनमें थोड़ा-थोड़ा भेद समझना चाहिये, अन्यथा पुनरुक्ति हो जायेगी। 'यह मेरा है मैं इसका हूँ' इस प्रकार का पक्षपात विशेष 'प्रेम' कहलाता है। परस्पर अवलोकनादि से जो प्रेम प्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है, जिसमें किसी एक के अनेक अपराध करने पर भी कमी नहीं आती है, उस प्रकार के अविरल प्रेम को 'प्रणय' शब्द से सूचित किया गया है और अधिक काल तक साथ रहने से जो प्रणय की दृढ़ता होती है उसे 'परिचय' शब्द से सूचित किया गया है।

उस सुन्दर नेत्रोंवाली मालती की प्रेम से सनी हुई, प्रणय का स्पर्श करने वाली तथा परिचय के कारण उद्गाढ़ (अर्थात् गुरुजन आदि के प्रतिबन्ध की भी चिन्ता न करने वाले) अनुराग से भरी हुई इस प्रकार की वे भावपूर्ण चेष्टाएँ मेरे प्रति हों, जिनकी (इस समय अपने मन में) कल्पना करने पर भी तत्क्षण बाह्य इन्द्रियों को व्यापार शून्य बना देने वाला अन्तःकरण का आनन्दमय लय-सा हो जाता है (अर्थात् जिन चेष्टाओं की कल्पना मात्र से इस समय सब-कुछ सुध-बुध भूलकर मन आनन्द सागर में लीन हो जाता है)।।32।।

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हह हा कोयं विधेः प्रक्रमः।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
वाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि।।33।।

एषा विरहोत्कण्ठिता।

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं बिना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम्।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः।।34।।

यह विप्रलम्भ शृङ्गार के अभिलाष या पूर्व राग भेद का उदाहरण है। इसके बाद विरह या समागम के बाद गुरुजनों की लज्जा आदि के कारण समागम में विलम्ब होने पर विकलता का प्रदर्शन कराने वाला उदाहरण देते हैं। इसमें रात को नायक के आगमन की प्रतीक्षा में खाट पर लेटी हुई नायिका की विकलावस्था या विरह का वर्णन किया गया है। नायिका कह रही है -

वे कहीं और (किसी अन्य स्त्री के पास) चले गये हैं, यह तो (कुत्सित कथा) कुविचार है। (ऐसा तो कभी सम्भव हो ही नहीं सकता है। शायद किसी मित्र के कहने से कहीं चले गये हों यह शङ्का भी नहीं बनती है क्योंकि) उनका ऐसा कोई मित्र भी नहीं है जो मुझको न चाहता हो (अर्थात् मेरा अहित चिन्तन करता हो और उनको बहकाकर कहीं ले जाय), फिर भी वे (अब तक) आये नहीं, यह भाग्य का कैसा खेल है! इस प्रकार की अनेक कल्पनाओं के हृदय में व्याप्त हो जाने से वह बिचारी (बाला) करवटें बदलती हुई (वृत्तः सञ्जातः विवर्तानां पार्श्वपरिवर्तनानां व्यतिकरः सम्बन्धः समूहो वा यस्याः सा वृत्तविवर्तनव्यतिकरा) रात को सो नहीं पा रही है।।33।।

(अधिक रात तक गुरुजन आदि के पास बैठे रहने के कारण, सङ्कोचवश उसका पति उसके पास नहीं आ रहा है। इसलिए) यह विरहोत्कण्ठिता है।

इसके आगे ईर्ष्या हेतुक विप्रलम्भशृङ्गार का तीसरा उदाहरण 'अमरुकशतक' में से देते हैं। इसमें किसी नवोढ़ा की सखी उसकी अवस्था को किसी अन्य सखी को सुनाकर कह रही है- वह पति के (अन्य स्त्री प्रसङ्ग रूप) प्रथम अपराध के समय सखियों के बतलाये बिना हाव-भाव से अङ्ग को चलाकर वक्रोक्तियों से उलहना देना नहीं जानती है। इसलिए खुले हुए और चञ्चल अलकों से उपलक्षित और (पर्यस्तनेत्रोत्पला परितः अस्ते क्षिप्ते नेत्रोत्पले यया सा पर्यस्तनेत्रोत्पला अर्थात्) आँखों को इधर-उधर करती हुई वह बिचारी (बाला) स्वच्छ गालों के किनारे से आँसू टपकाती हुई केवल रोती ही रहती है।।34।।

नायक के परस्त्री के सम्बन्ध को देखकर उत्पन्न ईर्ष्या के कारण यह विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण दिया गया है। आगे प्रवास हेतुक विप्रलम्भशृङ्गार उदाहरण देते हैं। यह श्लोक भी 'अमरुकशतक' से ही लिया गया है। किसी स्त्री का पति गुरुजनों के आदेश आदि के कारण दीर्घ-प्रवास पर विदेश जा रहा है। यह समाचार सुनकर वह अपने जीवन को सम्बोधन करके कह रही है -

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते।।35।।
त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः।।36।।

हे जीवन (हे प्राणो), प्रियतम के (प्रवास पर) जाने का निश्चय कर लेने पर कङ्कण पहिले ही चल दिये (अर्थात् मेरे शरीर में दुर्बलता आ जाने से कङ्कणों ने अपना स्थान छोड़ दिया और ढीले पड़ कर नीचे गिर गये हैं) और प्रिये को प्यार करने वाले आँसू तब से ही निरन्तर बहे जा रहे हैं। धृति तनिक देर भी नहीं रुकी और चित्त ने आगे-आगे जाने का निश्चय कर लिया है। हे प्राणों! तुम्हें भी जाना ही है, तब प्रिय मित्र का साथ छोड़ रही हो (तुम भी शरीर से निकल चलो)।।35।।

यह प्रवास हेतुक विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण दिया। आगे शाप हेतुक विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण कालिदास के 'मेघदूत' से लिया गया है।

अर्थात् पत्थर की शिला पर गेरू आदि धातु के रङ्गों से तुम्हारा चित्र बनाकर मैं जब तक (चित्र में) अपने को तुम्हारे चरणों में गिरा हुआ करना चाहता हूँ, तब तक आँसू फिर बढ़कर मेरी दृष्टि को आच्छादित कर लेते हैं। (और मैं उस चित्र को पूर्ण नहीं कर पाता हूँ)। निष्ठुर 'दैव' उस (चित्र) में भी हमारे सङ्गम को सहन नहीं करता है।।36।।

इस प्रकार सम्भोगशृङ्गार के दो भेद और विप्रलम्भशृङ्गार के पाँचों भेदों के पाँच, कुल मिलाकर शृङ्गार के सात उदाहरण यहाँ दिखलाये गये हैं। अब शेष हास्य आदि रसों का एक-एक उदाहरण आगे दिया गया है।

हास्य रस का उदाहरण हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम्-

आकुञ्च पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे
तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोहमिति रोदिति विष्णुशर्मा।।37।।

अर्थात् वेश्या ने अपने अपवित्र हाथ को सिकोड़ कर (मुट्ठी बाँधकर) जोर से थूत्कार करते हुए मन्त्रों के (द्वारा अभिमन्त्रित) जल-बिन्दुओं से प्रतिपद पवित्र किये हुए मेरे शिर पर प्रहार किया है, हाय-हाय मार डाला यह कहकर विष्णुशर्मा रो रहा है।।37।।

यह हास्य रस का उदाहरण दिया गया है।इसमें विष्णुशर्मा की दशा को देखकर सबको हँसी आती है।

करुणरस का उदाहरण—

आगे कम्ण रस का उदाहरण देते हैं। यह श्लोक कहाँ का है इसका ठीक पता नहीं है। जयन्त भट्ट के अनुसार कश्मीर की राजमाता के मरने पर भट्ट नारायण के विलाप का यह वर्णन है। महेश्वर का यह कथन है कि मदालसा के जलकर मर जाने पर यह पुरवासिनी स्त्रियों का विलाप है।

हा मातस्त्वरितासि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाशिषः
धिक् प्राणान् पतितोशनिर्हुतवहस्तेङ्गेषु दग्धे दृशौ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि।।38।।

अर्थात् हे माता इतनी जल्दी हमको छोड़कर तुम कहाँ चली गयी। अकस्मात् वज्रपात के समान यह क्या हुआ। देवताओं की इतनी पूजा करने वाली भी इस प्रकार चली गयी और देवता उसको बचा नहीं सके इसलिए हा देवताओं, आपकी भक्ति का क्या मूल्य रहा। हे ब्राह्मणो, आप प्रतिदिन उनको चिरञ्जीवी होने का आशीर्वाद देते थे। पर आपके आशीर्वाद कहाँ चले गये। और उनके चले जाने के बाद भी अब तक बने रहने वाले हमारे इन प्राणों को धिक्कार है। तुम्हारे अन्त्येष्टि संस्कार के समय अग्नि वज्र बनकर तुम्हारे शरीर पर गिरा और तुम्हारे (शरीर के साथ सुन्दर तथा स्नेह एवं दया से पूर्ण नेत्र भी भस्म हो गये। इस प्रकार उच्च स्वर से रोने के कारण भर्राती हुई बीच-बीच में रुक जाती हुई पुरवासिनी स्त्रियों की करुण-ध्वनि, चित्र में अङ्कित (नर, नारी आदि) को भी रुला रही है और भित्तियों के भी टुकड़े करे डालती है।।38।।

इस उदाहरण में मृत राजमाता आलम्बन-विभाव, उसका दाहादि उद्दीपन-विभाव, रोदन अनुभाव, दैन्य, ग्लानि मूर्च्छा आदि व्यभिचारिभाव हैं। उस सब सामग्री के द्वारा अभिव्यक्त होकर करुणरस सामाजिक के आस्वाद का विषय बनता है।

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार का भेद—

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार की सीमा अलग-अलग है। भ्रम की सम्भावना मुख्यतः प्रेमियों के वियोग की अवस्थाओं में रहती है। प्रेमियों का वियोग दो प्रकार का हो सकता है - 1. स्थायी वियोग, 2. अस्थायी वियोग। दोनों प्रेमियों के जीवन काल में जो वियोग किसी भी कारण होता है वह अस्थायी वियोग होता है और वह विप्रलम्भ-शृङ्गार की सीमा में आता हैं किन्तु दोनों प्रेमियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर जो वियोग होता है, उसमें मिलने की कोई आशा या सम्भावना नहीं रहती है। इसीलिए वह स्थायी वियोग होता है। वह करुणरस की सीमाओं में आता है। इस प्रकार जहाँ तक प्रेमियों के वियोग का सम्बन्ध है, उसमें

विप्रलम्भशृङ्गार तथा करुण रस की सीमा रेखा 'मृत्यु' है। मृत्यु से पूर्व तक विप्रलम्भशृङ्गार और मृत्यु के बाद करुण रस का क्षेत्र आता है।

संस्कृत काव्यों तथा नाटकों में ऐसे प्रसङ्ग भी पाये जाते हैं जहाँ दो प्रेमियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर भी उसका मिलन हो जाता है। कुछ इस प्रकार के उदाहरण भी पाये जाते हैं जिनमें वस्तुतः किसी की मृत्यु होती तो नहीं है, परन्तु समझ ली जाती है। ये दोनों प्रकार के स्थल भी करुण रस के क्षेत्र में माने जाते हैं। कुछ लोगों ने मृत्यु के बाद फिर समागम होने की स्थिति में करुणविप्रलम्भ नाम से विप्रलम्भ के एक अलग भेद की कल्पना की है, जैसा कि साहित्यदर्पणकार कहते है -

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भः।।

इस प्रकार का उदाहरण बाणभट्ट की 'कादम्बरी' में पुण्डरीक तथा महाश्वेता के वृत्तान्त में मिलता है। पुण्डरीक के मर जाने के बाद महाश्वेता और कपिञ्जल आदि विलाप कर रहे हैं। इसी बीच में कोई दिव्य ज्योति आकर पुण्डरीक के मृत शरीर को उठा ले जाती है और महाश्वेता को आश्वासन दे जाती है कि तुम्हारा इससे फिर मिलन होगा। इसमें आकाशवाणी के पूर्व का महाश्वेता आदि का जो विलाप है वह स्पष्ट ही करुणा रस है। उसके बाद मिलन की आशा हो जाने से विप्रलम्भ कहा जा सकता है। इसीलिए इसके लिए 'करुण-विप्रलम्भ' नाम का प्रयोग इन लोगों के द्वारा किया गया है।

मम्मट आदि अन्य आचार्यों ने 'करुणविप्रलम्भ' नामक शृङ्गार का कोई भेद नहीं माना है। उनके मत में यह करुण रस की सीमा के ही अन्तर्गत है। हाँ, आकाशवाणी के पश्चात् उसे कथञ्चित् विप्रलम्भ माना जा सकता है। परन्तु यह उदाहरण केवल कवि की कल्पना मात्र है। यथार्थ में तो अन्त तक करुण ही रह सकता है। क्योंकि व्यवहार में ऐसा तभी हो सकता है जब वास्तव में मृत्यु न हुई हो, पर समझ ली गयी हो। ऐसे स्थल पर पुनर्मिलन एकदम अप्रत्याशित रूप से ही होता है इसलिए करुण रस की मर्यादा रहती है और आकस्मिक पुनर्मिलन पर अद्भुत रस का उदय हो जाता है। इस प्रकार के उदाहरण, जिनमें मृत्यु नहीं हुई है परन्तु मृत्यु समझ ली गयी है, संस्कृत-साहित्य में अनेक पाये जाते हैं। महाकवि भवभूति का 'उत्तर-रामचरित' नाटक इसका सबसे सुन्दर उदाहरण है। रामचन्द्र के आदेश से लक्ष्मण गर्भवती सीता को वाल्मीकि के आश्रम के पास जङ्गल में छोड़ आये हैं। उसके बाद रामचन्द्र ने, उनको जङ्गली जानवरों ने खा डाला होगा, ऐसा समझ लिया है। 'उत्तर-रामचरित' के करुण रस को सर्वोत्तम स्वरूप प्रदान करने वाला रामचन्द्र का वह करुण विलाप है, जिसने पत्थरों को भी रुलाया है-'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'। ये सब उसी धारणा पर अवलम्बित है और इसीलिए 'उत्तररामचरित' करुण रस प्रधान नाटक माना गया है। पहिले सीता हरण के बाद भी सीता और राम का वियोग हुआ था, पर वह करुण नहीं अपितु विप्रलम्भर का ही उदाहरण है, क्योंकि उससे रामचन्द्र को सीता से मिलने की आशा थी। 'उत्तररामचरित' में रामचन्द्र ने स्वयं इन दोनों वियोगों का अन्तर इस प्रकार से बतलाया है-

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरैः
विमर्देर्वीराणां जनितजगदत्यद्भुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः।।

पहिला वियोग रिपुघात पर्यन्त रहने वाला था इसलिए वह विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण था पर यह दूसरी बार का वियोग 'निरवधिरयं तु प्रविलयः' है इसलिए वह करुण रस का उदाहरण है।

करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार का भेद दिखलाते हुए साहित्यदर्पणकार ने लिखा है -

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भदयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः।।

अर्थात् करुण रस का स्थायिभाव 'शोक' होता है और विप्रलम्भशृङ्गार का स्थायिभाव 'रति' होता है, क्योंकि उसमें पुनर्मिलन की आशा बनी रहती है।

भरतमुनि ने विप्रलम्भ को 'सापेक्ष' अर्थात् आशामय और करुण को 'निरपेक्ष' अर्थात् निराशामय रस कह कर उनका भेद बताया है-

करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाश-वध-बन्धसमुत्थो 'निरपेक्षभावः'। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः 'सापेक्षभावो' विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोन्यश्च विप्रलम्भ इति।

यहाँ 'सापेक्ष' और 'निरपेक्ष' शब्दों का अर्थ क्रमशः 'आशामय' तथा 'नैराश्यमय' करना चाहिये। विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा बनी रहने से दुःखमय होने पर भी उसमें जीवन का आशामय दृष्टि बिन्दु बना रहता है। परन्तु करुण रस में पुनर्मिलन की कोई सम्भावना न रहने से निराशमय दृष्टिकोण हो जाता है। करुण के इसी नैराश्यमय रूप को भवभूति ने 'तटस्थं नैराश्यात्' कह कर व्यक्त किया है। यहाँ 'तटस्थ' शब्द 'निराशामय' निरपेक्षभाव को सूचित करता है। इसलिए करुण और विप्रलम्भ की सीमा अलग-अलग है।

रौद्र रस का उदाहरण—

काव्यप्रकाशकार रौद्र रस का उदाहरण 'वेणीसंहार' नाटक के तृतीय अङ्क से देते हैं। द्रोणाचार्य का निर्दयतापूर्वक अनुचित ढंग से वध किये जाने का समाचार जब अश्वत्थामा को मिला तो अपने पिता और कौरव-पाण्डव सब के आचार्य के इस प्रकार अपमानपूर्वक सिर काटे जाने से क्रुद्ध होकर वह कह रहा है -

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवित्रुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्नेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम्।।39।।

हाथ में शस्त्र लिये हुए (उदायुधैः) 'मर्यादा का पालन न करने वाले' नरपशुओं के सदृश जिन आप लोगों ने (आचार्य द्रोण का शिरश्छेदन रूप) यह महान् पातक किया है, अथवा (कृष्ण आदि जिन्होंने उसका) अनुमोदन किया है, अथवा (भीम, अर्जुन आदि जिन्होंने धृष्टद्युम्न को रोकने का) यत्न न करके खड़े-खड़े प्रसन्नतापूर्वक (इस पाप को) देखा है, (नरकासुर के शत्रु) कृष्ण, भीत तथा अर्जुन के सहित उन (धृष्टद्युम्न आदि) के रक्त, चर्बी और मांस से मैं अभी दिशाओं की बलि (पूजन) करता हूँ।।39।।

इस उदाहरण में 'पशुभिः' इस पद से बलिदान-योग्यता सूचित होती है, 'उदायुधैः' इस पद से उनके प्रतीकार करने में समर्थ होने पर भी प्रतीकार न करने से अत्यन्त दण्डनीयत्व सूचित होता है। कर्त्ता, अनुमन्ता और द्रष्टा के अपराध में क्रमशः न्यूनता होती है इसलिए दण्डनीयता के क्रम से इनका उपादान किया गया है। इस दृष्टि से पहले कर्त्ता धृष्टद्युम्न का नाम लेना चाहिये था, परन्तु क्रोधातिशय में क्रम भूलकर पहले नरकरिपु कृष्ण का नाम लिया गया है। इस श्लोक का

अर्थ तो रौद्ररस के अनुरूप है, परन्तु उसकी शब्द रचना रौद्र रस के अनुरूप नहीं बन पड़ी है। इससे कवि की अशक्ति द्योतित होती है।

वीर रस का उदाहरण—

'हनुमन्नाटक' के एकादश अङ्क से वीर रस का उदाहरण लिया गया हैं। लङ्का-युद्ध के समय इन्द्रजित् की यह उक्ति है-

क्षुद्राः संत्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे! तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि।।40।।

अर्थात् अरे क्षुद्र बन्दरो, तुम मत डरो, (क्योंकि इन्द्र के हाथी) ऐरावत के गण्डस्थल का भेदन करने वाले मेरे ये बाण तुम्हारे शरीर पर गिरने में लज्जा का अनुभव करते हैं इसलिए तुम मत डरो, तुम्हारे ऊपर इनका प्रहार नहीं होगा, हे लक्ष्मण, तुम भी हट जाओ, तुम मेरे क्रोध के योग्य नहीं हो, जानते हो, मैं मेघनाद हूँ, मैं तु लोगों से क्या लड़ूँगा मैं तो तनिक-सी भौंहे टेढ़ी करने मात्र से समुद्र को वश में कर लेने वाले राम को खोज रहा हूँ।। 40।।

इस उदाहरण में राम आलम्बन विभाव हैं, उनके द्वारा समुद्रबन्धन उद्दीपन-विभाव, क्षुद्र वान आदि की उपेक्षा और परम प्रतापशाली राम का अन्वेषण अनुभाव, ऐरावत के गण्डस्थल के भेदन की स्मृति और 'बाण लज्जित होते हैं' इससे गम्य गर्व व्यभिचारिभाव है। राम से लड़ने का 'उत्साह' स्थायिभाव है। कुछ आचार्यों ने युद्धवीर, दानवीर और
दयावीर भेद से वीर रस के तीन भेद किये हैं।

'स च वीरो दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्विधः 'लिखकर साहित्य-दर्पणकार ने तीन के स्थान पर चार प्रकार का वीर रस माना है। उनमें से दानवीर बलि आदि, दयावीर जीमूतवाहन आदि और धर्मवीर युधिष्ठिर आदि प्रसिद्ध हैं।

भयानक रस का उदाहरण—

शाकुन्तलम् नाटक के प्रथम अङ्क से भयानक रस का उदाहरण प्रस्तुत है। राजा दुष्यन्त शिकार के लिए निकले हैं। एक मृग के पीछे उनका रथ दौड़ रहा है और भय के कारण वह मृग अपनी सारी शक्ति से आगे-आगे भाग रहा है। उस समय राजा दुष्यन्त अपने सारथि से मृग के भागने की दशाओं का वर्णन कर रहे हैं -

ग्रीवाभङ्गाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।।41।।

अर्थात् देखो यह मृग ,सुन्दरता के साथ गर्दन घुमाकर पीछे आते हुए (हमारे) रथ पर बार-बार दृष्टि डालता हुआ, और बाण लगने के भय से अपने पीछे के आधे शरीर को अगले शरीर में घुसेड़ते हुए थक जाने से (हाँफते हुए) खुले हुए मुख से आधे खाये हुए तृणों की पृथिवी पर गिराता हुआ, देखो, यह हरिण (लम्बी-लम्बी छलाँगें मारने के कारण मानो) आकाश में अधिक और पृथिवी पर कम चलता है।।41।।

इस उदाहरण में पीछा करने वाला राजा या उसका रथ आलम्बन, बाण लगने का भय और अनुसरण उद्दीपन, गर्दन मोड़ना और भागना आदि अनुभाव और त्रास, श्रम आदि

व्यभिचारिभाव है। 'शरपतनभयात्' में भय पद का उपादान करने से स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता का दोष नहीं आता है, क्योंकि शरपतन-भय वहाँ 'स्थायिभाव नहीं, केवल उद्दीपन है। राजा से उत्पन्न भय स्थायिभाव है।

हिन्दी के निम्नलिखित पद्य को भयानक रस के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है-

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं,
सकैं न विलोकि वेष केसरी किसोर को।
मीति-मीजि हाथ धुनि माथ दसमाथ-तिय
'तुलसी' तिलौ न भयो बाहिर अगार को।
सब असबाब डरौं मैं न काढ़ो तैं न काढ़ो
जियकी परी सँभार, सहन भंडारको।
खीजति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद
बयो लुनियत सब याही दाढ़ीजार को।।

प्रस्तुत उदाहरण में हनुमान्जी लङ्का को जला रहे हैं। लङ्का को जलती देखकर मन्दोदरी का भय स्थायिभाव है। हनुमान् आलम्बन-विभाव है। हनुमान् का भयानक वेष, घर, असबाब का जलना उद्दीपन-विभाव है। घबड़ाकर भागना, हाथ मींजना, माथा पीटना, असबाब को घर से काढ़ने के लिए तू-तू--मैं-मैं करता आदि अनुभाव हैं। विषाद्, चिन्ता आदि सञ्चारिभाव हैं।

वीभत्स रस का उदाहरण—

'मालतीमाधव' के पञ्चम अंक से वीभत्स रस का उदाहरण ग्रहण किया गया है। श्मशान में किसी प्रेत को मांस भक्षण में लगा हुआ देखकर माधव उसकी वीभत्स चेष्टाओं का वर्णन इस प्रकार कर रहा है-

उत्कृत्योकृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्क करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्य मव्यग्रमत्ति।। 42।।

पहले खाल को उखाड़-उखाड़कर कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि अवयवों में ऊँचे उभरे हुए अधिक मात्रा में उपलब्ध, भयंकर -दुर्गन्ध युक्त सड़े हुए मांस को खा चुकने के बाद, दूसरा छीन न ले इस दृष्टि से चारों ओर देखता हुआ, और दाँत निकाले हुए, भूखा, दरिद्र प्रेत गोद में रखे हुए मुर्दे के हड्डी के भीतर लगे हुए और गढ़ों में स्थित क्रव्य ,कच्चे मांस को भी धीरे-धीरे खा रहा है।। 42।।

इस उदाहरण में दरिद्र प्रेत आलम्बन, खाल को उखाड़ना और मांस का खाना उद्दीपन, उसको देखने वाले का नाक बन्द करना, मुँह फेर लेना, थूकना आदि अनुभाव और उद्वेग आदि

व्यभिचारिभाव हैं। 'जुगुप्सा' स्थायिभाव है। अतः यहॉ सामाजिक में जुगुप्सा होने से 'वीभत्स' रस अभिव्यक्त होता है।

अभ्यास प्रश्न -

1-प्रश्न-नाट्य शास्त्र में कितने रस माने जाते हैं।

2-प्रश्न-सम्भोगशृङ्गार के कितने भेद होते हैं।

3-प्रश्न- आकस्मिक पुनर्मिलन पर किस रस का उदय हो जाता है।

4-प्रश्न- करुण रस का स्थायिभाव क्या होता है

5-प्रश्न- विप्रलम्भ शृङ्गार का स्थायिभाव क्या होता है

2.4 सारांश

इस इकाई में रसभेद उदाहरण सहित ज्ञान वर्णन किया गया है। 1. शृङ्गार, 2. हास्य, 3. करुण, 4. रौद्र, 5. वीर, 6. भयानक, 7. वीभत्स और 8. अद्भुत-नाट्य में ये आठ रस माने जाते हैं।रसों का यह विशेष क्रम क्यों ? यह कारिका मूल रूप से भरतमुनि के नाट्यशास्त्र की कारिका है। मम्मट ने उसे भरत-नाट्यशास्त्र अ. 6-16 से ज्यों का त्यों उतार लिया है। इसमें विशेषतः नाट्यगत आठ रसों का क्रमशः उद्देश अर्थात् नाम मात्र से कथन किया है। भरतमुनि ने इन आठों रसों का जो इस विशेष क्रम से कथन किया है उसका विशेष प्रयोजन है।

2.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
अन्यत्र	दूसरा
व्रजतीति	ऐसा जाता है
नाप्यस्य	इसका भी नही
तादृक्	उसके जैसा
सुहृद्	अच्छा मित्र
यो मां नेच्छति	जो मुझको नही चहता है
नाप्नोति	नही प्राप्त होता है
निद्रां निशि	रात्रि के निद्रा को
पत्युः	पति का
प्रथमापराधसमये	प्रथम अपराध के समय में
सख्योपदेशं बिना	मित्र के उपदेश के विना

2.6- अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर -नाट्य शास्त्र में ये आठ रस माने जाते हैं।

उत्तर -सम्भोगशृङ्गार के दो भेद होते हैं।

उत्तर -आकस्मिक पुनर्मिलन पर अद्भुत रस का उदय हो जाता है।

उत्तर -करुण रस का स्थायिभाव 'शोक' होता है

उत्तर -विप्रलम्भशृङ्गार का स्थायिभाव 'रति' होता है

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1-संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तुरवानगर सिगरा वाराणसी।
2-काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट,चौखम्भा संस्कृत भारती, वाराणसी।

2. 8 उपयोगी पुस्तकें

1-काव्यप्रकाश,आचार्य मम्मट, चौखम्भा संस्कृत भारती, वाराणसी।

2. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. करुण रस का उदाहरण सहित परिचय दीजिये।
2.हास्य रस का वर्णन कीजिए
3.रसभेद पर निबन्ध लिखिए

इकाई 3.अलंकार लक्षण क्रमिक विकास

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 अलंकार लक्षण क्रमिक विकास
3.4 सारांश
3.5 शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.8 उपयोगी पुस्तकें
3.9 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र से सम्बन्धित तृतीय इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप बता सकते हैं कि काव्यशास्त्रीय परम्परा में अलंकार लक्षण क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ । इन सबका विवेचन इस इकाई में आपके अध्ययनार्थ किया गया है।

'काव्यप्रकाश' में पॉच शब्दालंकार, 61 अर्थालंकार और 1 उभयालंकार कुल मिलाकर 67 अलंकारों का निरूपण किया गया है। परन्तु अलंकारों की संख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में अलग-अलग पायी जाती है।

भरत के नाट्यशास्त्र में उपमा , रूपक , दीपक तथा यमक केवल इन चार ही अलंकारों का वर्णन पाया जाता है। वामन ने उनके 33 भेद दिखलाये हैं। दण्डी ने 35 प्रकार के , भामह ने 39 प्रकार के और उद्भट ने 40 प्रकार के अलंकारों का वर्णन किया है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार ' में 52 तथा काव्यप्रकाशकार ने 67 प्रकार के अलंकारों के भेद दिखलाये हैं।

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप अलंकार लक्षण क्रमिक विकास एवं संख्यात्मक विवेचन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण बातों का अध्ययन करके -

- ❖ अलंकार लक्षण के विषय में बता सकेंगे
- ❖ काव्यप्रकाश के 61 अलंकारों को बता सकेंगें
- ❖ अलंकारों की संख्या के विषय में समझा सकेंगे
- ❖ अलंकारों के वर्गीकरण के विषय में बता सकेंगे ।

3.3 अलंकार लक्षण क्रमिक विकास

अलंकार लक्षण—

काव्य प्रकाश के प्रथम उल्लास में काव्य का लक्षण करते समय अनलंकृति पुनः क्वापि' यह भी 'शब्दार्थौ' का एक विषेशण दिया गया था। उसको स्पष्ट रूप से समझने के लिए अलंकारों का निरूपण करना आवश्यक है, इसलिए इस इकाई में अलंकारों का समावेश आवश्यक हुआ। इन अलंकारों के शब्दालंकार , अर्थालंकार तथा उभयालंकार नाम से तीन भेद किये गये हैं। जो अलंकार शब्दपरिवृत्य सह होते हैं अर्थात् किन्ही विषेश शब्दों के रहने पर ही अलंकार रहते हैं और उन विशेष शब्दों को बदलकर यदि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख दिये जायें तो उन अलंकारों की स्थिति नहीं रहती है, वे अलंकार उन विषेश शब्दों के ही आश्रित होने से शब्दालंकार कहलाते हैं। और जो अलंकार शब्द परिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् यदि उन षब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जायें तो भी अलंकारों को कोई हानि नहीं होती है वे अलंकार शब्दाश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते हैं। इसलिए अर्थालंकार कहलाते हैं। विगत नवम् उल्लास में ग्रन्थकार ने 1.वक्रोक्ति, 2.अनुप्रास, 3.यमक, 4.ष्लेश, 5.चित्र नामक पॉच अलंकार तथा 6.पुनरुक्तवदाभास नामक उभयालंकार इन छह अलंकारों का निरूपण किया था। अब इस दशम् उल्लास में 61 प्रकार के अर्थालंकारों का निरूपण करते हैं।

अलंकारों की संख्या के विषय में मतभेदः- इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' में पॉच शब्दालंकार, 61 अर्थालंकार और 1 उभयालंकार कुल मिलाकर 67 अलंकारों का निरूपण

किया गया है। परन्तु अलंकारों की संख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में अलग-अलग पायी जाती है। भरत-नाट्यषास्त्र में उपमा , रूपक , दीपक तथा यमक केवल इन चार ही अलंकारों का वर्णन पाया जाता है। वामन ने उनके 33 भेद दिखलाये हैं। दण्डी ने 35 प्रकार के , भामह ने 39 प्रकार के और उद्भट ने 40 प्रकार के अलंकारों का वर्णन किया है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार में 52 तथा काव्यप्रकाषकार ने 67 प्रकार के अलंकारों के भेद दिखलाये हैं। जयदेव के ' चन्द्रलोक ' में अलंकारों की संख्या 100 हो गयी है और उनके व्याख्याकार अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में उसको बढ़ाकर 124 तक पहुचा दिया है। इसका निम्नलिखित रूप में किया गया है—

उपमा रूपकं चैव दीपको यमकस्तथा।
चत्वार एवालंकारा भरतेन निरूपिताः।।1।।
वामनेन त्रयस्त्रिषद् भेदास्तस्य निरूपिताः।
पन्चत्रिंषद्विधष्चायंदण्डिना प्रतिपादितः।।2।।
नवित्रिंषद्विधष्चाय भामहेन प्रकीर्तितः।
चत्वारिंषद्विधष्चैव उद्भटेन प्रदर्षितः।।3।।
द्विपन्चाषद्विधः प्रोक्तो रूद्रटेन ततः परम्।
सप्तशश्टिविधः प्रोक्तः प्रकाषे मम्मटेन च।।4।।
षतधा जयदेवेन विभक्तो दीक्षितेन च।
चतुर्विंषतिभेदास्तु कृता एकषतोत्तराः।।5।।

'काव्यप्रकाश' के 61 अर्थालंकारः- काव्यप्रकाश' के दशम उल्लास में वर्णित 61 अर्थालंकारों के नाम इस प्रकार हैं-

1. उपमा,	2. अनन्वय,	3. उपमेयोपमा,
4. उत्प्रेक्षा,	5. ससन्देह,	6. रूपक,
7.अपह्नुति ,	8. ष्लेश,	9. समासोक्ति,
10. निदर्षना,	11. अप्रस्तुतप्रषंसा,	12. अतिष्योक्ति,
13. प्रतिवस्तूपमा,	14. दृश्टान्त,	15. दीपक,
16. तुल्ययोगिता,	17. व्यतिरेक,	18. आक्षेप,
19. विभावना,	20. विषेशोक्ति,	21. यथासंख्य,
22. अर्थान्तरन्यास,	23. विरोधाभास,	24. स्वभावोक्ति,
25. व्याजस्तुति,	26. सहोक्ति,	27. विनोक्ति,
28. परिवृत्ति,	29. भाविक,	30. काव्यलिंग,
31. पर्यायोक्ति,	32. उदात्त,	33. समुच्चय,
34. पर्याय,	35. अनुमान,	36. परिकर,
37. व्याजोक्ति,	38. परिसंख्या,	39. कारणमाला,
40. अन्योन्य,	41. उत्तर,	42. सूक्ष्म,
43. सार,	44. असंगति,	45. समाधि,
46. सम,	47. विशम,	48. अधिक,
49. प्रत्यनीक,	50. मीलित,	51. एकावली,
52. स्मृति,	53. भ्रान्तिमान्,	54. प्रतीप,

55. सामान्य, 56. विषेश, 57. तद्ग्रण,
58. अतद्गुण, 59. व्याघात्, 60. संसृश्टि,
61. संकर।

अलंकारों का वर्गीकरण:—

'अलंकारसर्वस्व' के निर्माता रूय्यक (बारहवीं षताब्दी का मध्य भाग) ने 67 अलंकारों का प्रतिपादन किया है और रचना शैली के आधार पर सात मुख्य भागों मे उन समस्त अलंकारों का वर्गीकरण प्राप्त होता है। इनमें प्रथम वर्ग के फिर चार अवान्तर भेद किये जाते हैं। इस प्रकार अलंकारों के 4+6=10 वर्ग बन जाते हैं। उनके नाम और उनके अन्तर्गत अलंकारों की संख्या इस प्रकार है -

1 सादृश्यमूलक अलंकार (4+6+2+17 = 29)

अ-भेदाभेद प्रधान	4
आ-आरोपमूलक अभेद प्रधान	6
इ-अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान	2
ई-गम्य औपम्यमूलक अलंकार	17
सादृश्यमूलक अलंकार	29
2. विरोधमूलक अलंकार	11
3. श्रृंखलाबन्धमूलक अलंकार	3
4. तर्कन्यायमूलक अलंकार	2
5. वाक्यन्यायमूलक अलंकार	8
6 .लोकन्यायमूलक अलंकार	7
7. गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक अलंकार	7
सादृश्यातिरिक्तमूलक अलंकार कुल	38

इस प्रकार रूय्यक ने 67 अलंकारों का वर्गीकरण किया है। इन वर्गों मे अन्तर्भूत अलंकारों के नाम इस प्रकार हैं-

1.सादृश्यमूलक अलंकार- अ- भेदाभेद प्रधान –
1. उपमा (काव्यप्रकाश संख्या 1),
2. उपमेयोपमा (का. 3),
3. अनन्वय (का. 2),
4. स्मरण (का. 52)।

आ - आरोपमूलक अभेदप्रधान छह अलंकार-
5. रूपक ,
6. परिणाम ,
7. ससन्देह ,
8. भ्रान्तिमान् ,
9. उल्लेख ,
10. अपह्नुति ,

इ - अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान दो अलंकार –
11. उत्प्रेक्षा ,

12. अतिशयोक्ति ।

ई- गम्य औपम्यामिश्रित सादृश्यमूलक 17 अलंकार –

13. तुल्योगिता ,	14. दीपक ,	15. प्रतिवस्तूपमा ,
16. दृष्टान्त ,	17. निदर्षना ,	18. व्यतिरेक ,
19. सहोक्ति,	20. विनोक्ति ,	21. समासोक्ति ,
22. परिकर,	23. परिकरांकुर ,	24. श्लेश ,
25. अप्रस्तुतप्रशंसा ,	26. अर्थान्तरन्यास ,	27. पर्यायोक्ति ,
28. व्याजस्तुति ,	29. आक्षेप ,।	

2.विरोधमूलक ग्यारह अलंकार-

30. विरोध ,	31. विभावना ,	32. विषेशोक्ति ,
33. असंगति ,	34. विषम ,	35. सम ,
36. विचित्र ,	37. अधिक ,	38. अन्योन्य ,
39. विषेश),	40. व्याघात ,।	

3.श्रृंखलाबन्धकमूलक तीन अलंकार –

41. कारणमाला ,	42. एकावली,	43. सार, ।

4.तर्कन्यायमूलक दो अलंकार –

44. काव्यलिंग ,	45. अनुमान ,।

5.वाक्यन्यायमूलक आठ अलंकार-

46. यथासंख्य,	47. पर्याय ,	48. परिवृत्ति ,
49. परिसंख्या ,	50. अर्थापति ,	51. विकल्प ,
52. समुच्चय ,	53. समाधि ,।	

6.लोकन्यायमूलक सात अलंकार-

54. प्रत्यनीक ,	55. प्रतीप ,	56. मीलित ,
57. सामान्य ,	58. तद्गुण ,	59. अतद्गुण ,
60. उत्तर ,।		

7.गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक सात अलंकार –

61. सूक्ष्म ,	62. व्याजोक्ति ,	63 वक्रोक्ति ,
64. स्वभावोक्ति ,	65. भाविक ,	66. संसृष्टि ,
67. संकर ,।		

इस प्रकार अलंकार सर्वस्वकार रूय्यक ने 67 अलंकारों का वर्गीकरण किया है। 'काव्य प्रकाश' में केवल 61 अलंकार दिये गए हैं । अतः रूय्यक ने ' काव्यप्रकाश' की अपेक्षा छह अधिक अलंकारों का वर्णन किया हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1-प्रश्न-वामन के मत में कितने अलंकार होते हैं ?

2-प्रश्न-दण्डी के मत में कितने अलंकार होते है ?

3-प्रश्न-भामह के मत में कितने अलंकार होते है ?

4-प्रश्न-उद्भट के मत में कितने अलंकार होते है ?

5-प्रश्न-मम्मट के मत में कितने अलंकार होते है ?

3.4 सारांश

इस इकाई में अलंकार लक्षण एवं उनका क्रमिक विकास , संख्यात्मक विवेचन किया गया है 'काव्यप्रकाश' में पॉच शब्दालंकार, 61 अर्थालंकार और 1 उभयालंकार कुल मिलाकर 67 अलंकारों का निरूपण किया गया है। उसको स्पष्ट रूप से समझने के लिए अलंकारों का निरूपण करना आवश्यक है, इन अलंकारों के शब्दालंकार , अर्थालंकार तथा उभयालंकार नाम से तीन भेद किये गये हैं। जो अलंकार शब्दपरिवृत्त्य सह होते हैं अर्थात् किन्ही विशेष शब्दों के रहने पर ही अलंकार रहते हैंऔर उन विशेष शब्दों को बदलकर यदि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख दिये जायें तो उन अलंकारों की स्थिति नहीं रहती है, वे अलंकार उन विशेष शब्दों के ही आश्रित होने से शब्दालंकार कहलाते हैं।

3.5 शब्दावली

शब्द	अर्थ
उपमा रूपकम्	उपमा रूपक को
दीपको यमकम्	दीपक यमक को
चत्वार एवालंकारान्	चारों हि अलंकारों को
भरतेन निरूपिताः	भरत के द्वारा निरूपित
वामनेन	वामन के द्वारा
त्रयस्तिंरषद् भेदास्तस्य	उसके तैंतीस भेद है
निरूपिताः	निरूपित है
प्रतिपादितः	प्रतिपादित है
भामहेन	भामह के द्वारा

3. 6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर -वामन के मत में 33 अलंकार होते हैं।

उत्तर -दण्डी के मत में 35 अलंकार होते हैं।

उत्तर -भामह के मत में 39 अलंकार होते हैं।

उत्तर -उद्भट के मत में 40 अलंकार होते हैं।

उत्तर -मम्मट के मत में 67 अलंकार होते हैं।

3. 7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1-संस्कृत साहित्य का इतिहास . बलदेव उपाध्याय प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तुरवानगर सिगरा वाराणसी

2.किरातार्जुनीयम् भारवि चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

3.काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

3. 8 उपयोगी पुस्तकें

1-काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट	चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी

3. 9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अलंकारों के क्रमिक विकास पर एक निबन्ध लिखिए।
2. मम्मट के 61 अलंकारो के विषय में परिचय दीजिये।

इकाई 04. शब्दालंकार भेद सहित वर्णन

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 अलंकार लक्षण और विकास क्रम

4.4 शब्दालंकार का परिचय

4.5 शब्दालंकार के भेद

- 4.5.1. वक्रोक्ति
- 4.5.2. अनुप्रास अलंकार
- 4.5.3. यमक
- 4.5.4. श्लेष
- 4.5.5. पुनरुक्तवदाभास

4.6 सारांश

4.7 शब्दावली

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

'काव्यप्रकाश' में पॉच प्रकार के शब्दालंकार, इकसठ प्रकार के अर्थालंकार और एक उभयालंकार का वर्णन है। कुल मिलाकर 67 अलंकारों का निरूपण मम्मट द्वारा किया गया है। परन्तु अलंकारों की संख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में अलग-अलग पायी जाती है।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक , दीपक तथा यमक केवल इन चार ही अलंकारों का वर्णन पाया जाता है। वामन ने उनके 33 भेद दिखलाये हैं। दण्डी ने पैतीस प्रकार के , भामह ने उन्तालीस प्रकार के और उद्भट ने चालीस प्रकार के अलंकारों का वर्णन किया है। रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार ' में बावन तथा काव्यप्रकाशकार ने सरसठ प्रकार के अलंकारों के भेद दिखलाये हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों में शब्दालंकार के प्रकारों को निर्धारित किए जाने में पर्याप्त मतभेद भी है। 16 वीं शताब्दी के आचार्य केशव मिश्र के ग्रंथ अलंकार शेखर में भी शब्दालंकार की संख्या में बढ़ोतरी दिखाई देती है। चंद्रलोक में जयदेव ने साहित्य दर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने, शब्दालंकार की चर्चा की है। किंतु यहां पर आप के अध्ययन के लिए आचार्य मम्मट और इन सभी के मतों को सम्मिलित करके अलंकारों के वर्णन प्रस्तुत किए जा रहे हैं।शब्दालंकार से संबंधित इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप शब्दालंकारों की व्याख्या करने में सक्षम हो जाएंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप अलंकार लक्षण क्रमिक विकास एवं संख्यात्मक विवेचन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण बातों का अध्ययन करके—

- ❖ अलंकार लक्षण के विषय में बता सकेंगे।
- ❖ काव्यप्रकाश के शब्दालंकारों को बता सकेंगें।
- ❖ अलंकारों की संख्या के विषय में समझा सकेंगे।
- ❖ शब्दालंकारों की व्याख्या कर सकेंगे।
- ❖ काव्यप्रकाश में वर्णित शब्दालंकारों को परिभाषित कर सकेंगे।

4.3 अलंकार लक्षण और विकास क्रम

काव्य प्रकाश के प्रथम उल्लास में काव्य का लक्षण करते समय '**अनलंकृति पुनः क्वापि**' यह भी 'शब्दार्थौ' का एक विषेशण दिया गया। इसे समझने के लिए अलंकारों का निरूपण करना आवश्यक है, इसलिए इस इकाई में अलंकारों का समावेश आवश्यक हुआ। इन अलंकारों के शब्दालंकार , अर्थालंकार तथा उभयालंकार नाम से तीन भेद किये गये जाते हैं। जो अलंकार किन्ही विषेश शब्दों के रहने पर ही अलंकार रहते हैं और उन विशेष शब्दों को बदलकर यदि उनके स्थान पर उनके पर्यायवाचक दूसरे शब्द रख दिये जायें तो उन अलंकारों की

स्थिति नहीं रहती है, वे अलंकार उन विषेश शब्दों के आश्रय में होने के कारण शब्दालंकार कहलाते हैं। और जो अलंकार शब्द परिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् यदि उन शब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जायें तो भी अलंकारों को कोई हानि नहीं होती है वे अलंकार शब्दाश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते हैं। इसलिए अर्थालंकार कहलाते हैं। नवम् उल्लास में मम्मट नें ने 1.वक्रोक्ति, 2.अनुप्रास, 3.यमक, 4.श्लेश, 5.चित्र नामक पॉच अलंकार तथा 6.पुनरुक्तवदाभास नामक उभयालंकार इन छह अलंकारों का निरूपण किया था। अब इस दशम् उल्लास में 61 प्रकार के अर्थालंकारों का निरूपण करते हैं। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' में पॉच शब्दालंकार, 61 अर्थालंकार और 1 उभयालंकार कुल मिलाकर 67 अलंकारों का निरूपण किया गया है। परन्तु अलंकारों की संख्या भिन्न-भिन्न आचार्यों के मत में अलग-अलग पायी जाती है। जयदेव के ' चन्द्रलोक ' में अलंकारों की संख्या 100 हो गयी है और उनके व्याख्याकार अप्पयदीक्षित ने 'कुवलयानन्द' में उसको बढ़ाकर 124 तक पहुचा दिया।

4.4 शब्दालंकार का परिचय

शब्द विशेष के रहने पर अलंकार विशेष का रहना अन्वय है जबकि किसी शब्द विशेष के अभाव में अलंकार विशेष का अभाव व्यतिरेक कहलाएगा। इस आधार पर जो अलंकार किसी विशेष शब्द की ही स्थिति में रहे और उसके स्थान पर कोई पर्यायवाची शब्द रख देने से उसका अस्तित्व न रहे वह शब्दालंकार है। इसे यूँ समझें कि शब्दालंकार में शब्दों का परिवर्तन नहीं किया जा सकता। यहाँ शब्दों को परिवर्तित करते ही अलंकारत्व समाप्त हो जाता है। ये अलंकार शब्द पर आश्रित होने से शाब्दिक चमत्कार की विशेष रूप से अभिवृद्धि करते हैं तथा काव्यार्थ को सुन्दर शैली में व्यक्त करने में सहायक हैं। साथ ही इनमें ध्वन्यात्मकता होने से ये सुनने में भी प्रिय एवं मधुर होते हैं। शब्दालंकार कुछ तो वर्णगत होते हैं, कुछ शब्दगत और कुछ वाक्यगत। अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोति आदि शब्दालंकार है। एक उदाहरण पर ध्यान दीजिए। चन्द्रालोक में अर्थानुप्रास का उदाहरण देते हुए यह पंक्ति कही गई है-**'चन्दनं खलु गोविन्द चरणद्वन्द्व वन्दनम्''।।** अर्थात् गोविन्द (भगवान श्रीकृष्ण) के चरण युगलों की वन्दना चन्दन के समान शान्ति प्रदान करने वाली है। यहाँ वन्दन और चन्दन क्रमशः उपमेय और उपमान हैं तथा दोनों में 'न' तथा 'द' वर्णों की आवृत्ति हुई है। इसलिए यहाँ अनुप्रास अलंकार है। अब यदि इस श्लोक में 'वन्दनम्' के बदले 'अर्चनम्' शब्द रख दिया जाए तो अनुप्रास अलंकार ही समाप्त हो जाएगा। इसलिए शब्द विशेष के अपरिवर्तनीय होने से यहाँ शब्दालंकार है।

4.5 शब्दालंकार के भेद

4.5.1 . वक्रोक्ति — वक्रोक्ति को परिभाषित करते हुए आचार्य मम्मट लिखते हैं कि वक्ता द्वारा अन्य प्रकार से कहे हुए वाक्य का अर्थ श्लेष या काकु (कहने के तरीके) के द्वारा श्रोता वक्ता के अभिप्राय से भिन्न समझे, उसे वक्रोक्ति अलंकार कहते हैं-

यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा सा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।।

अर्थात् जो वक्ता द्वारा अन्य प्रकार से (अन्य अर्थ में) कहा हुआ वाक्य दूसरे अर्थात् बोद्धा या श्रोता के द्वारा श्लेष अर्थात् शब्द के दो अर्थवाला होने से अथवा काकु अर्थात् बोलने के प्रकार से, अन्य प्रकार से अर्थात् वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ में लगा लिया जाता है, वह वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार होता है और वह वक्रोक्ति अलंकार दो प्रकार का होता है-श्लेष वक्रोक्ति ओर काकुवक्रोक्ति। श्लेषवक्रोक्ति के पुनः दो भेद सभंगश्लेष वक्रोक्ति और अभंगश्लेष वक्रोक्ति।

1. सभंगश्लेष-

जहाँ शब्द को संधि-विच्छेद या समासविग्रह के द्वारा तोड़कर वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ लिया जाय। इसके लिए निम्नलिखित श्लोक काव्यप्रकाश में उद्धृत किया गया है-

नारीणामनुकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो
वामानां प्रियमादधाति हितकृन्नैवाबलानां भवान्।
युक्तं किं हितकर्तनं ननु बलाभावप्रसिद्धात्मनः
सामर्थ्यं भवतः पुरन्दरमतच्छेदं विधातुं कुतः।।

इसमें वक्ता कह रहा है कि नारियों के अनुकूल आचरण करते हो। इसीलिए समझदार हो। श्रोता 'नारीणाम्' (स्त्रियों के) का सन्धिविच्छेद कर 'न अरीणां' (शत्रुओं के) अर्थ समझकर उत्तर देता है- कौन ऐसा बुद्धिमान् है जो शत्रुओं के (वामानाम्) अनुकूल आचरण करेगा, अर्थात् कोई नहीं।लेकिन इसका श्रोता (पूर्व वक्ता) 'वाम' का अर्थ शत्रु न लेकर (स्त्री) लेता है, (संस्कृत में वाम और वामा दोनों का षष्ठी विभक्ति, बहुवचन में 'वामानाम्' रूप बनता है) और यह समझ बैठता है कि कौन बुद्धिमान् स्त्रियों के शासन में रहना पसन्द करेगा, अर्थात् कोई नहीं और उससे पूछता है कि क्या आप अबलाओं का हित करने वाले नहीं हो ? (हितकृत् न एव अबलानां भवान्) ? लेकिन दूसरा व्यक्ति (श्रोता) 'अबलानाम्' का अर्थ निर्बलानां (निर्बलों का) लेते हुए समझता है कि दुर्बलों के हितों का नाश करने वाले नहीं हो? और उत्तर देता है कि क्या बात करते हैं, निर्बलों के हित का विनाश करना क्या उचित है, अर्थात् बिलकुल नहीं (बलाभावप्रसिद्धात्मनः हितकर्तनं युक्तं किम् ?) लेकिन इसका श्रोता या पूर्ववक्ता यहाँ बलाभाव का अर्थ बल के अभाव वाला या निर्बल न लेकर बल नामक असुर को जीतने वाला इन्द्र लेकर समझता है कि क्या देवराज इन्द्र के हित का विनाश करना उचित है, अर्थात् नहीं। और उत्तर देता है कि आप में इन्द्र के हित का विनाश करने की सामर्थ्य कहाँ हैं?यहाँ केवल 'नारीणाम्' पद का सन्धि-विच्छेद से न = अरीणाम् कर देने से उल्लिखित प्रत्येक कथन का श्रोता और वक्ता अलग-अलग अर्थ समझ बैठे। अतएव इसमें सभंगश्लेष वक्रोक्ति अलंकार है।

2. अभंगश्लेष वक्रोक्ति में सन्धि-विच्छेद या समास विग्रह से पद को बिना अलग किए वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ समझा लिया जाता है-

अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारूणा तव निर्मिता।
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारूमयी क्वचित्।।

किसने तुम्हारी ऐसी दारूण (निर्दय, कठोर) बुद्धि बनाई? लेकिन श्रोता ने दारूणा का अर्थ (दारू का तृतीया बहुवचन में दारूणा) काष्ठेन (काठ से) समझकर उत्तर देता है-(सांख्य दर्शन में) तीन गुणों से बनी बुद्धि तो सुनी जाती है, काठ से बनी बुद्धि तो नहीं सुनी जाती। इस उदाहरण में बिना संधि-विच्छेद या समास-विग्रह किए 'दारूणा' पद का वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ काठ से निर्मित श्रोता ने लिया गया है। इसमें अभंगश्लेष वक्रोक्ति अलंकार है।

काकु-वक्रोक्ति-'भिन्न-कण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।

अर्थात् कंठ-ध्वनि में परिवर्तन से भिन्न अर्थ समझे जाने की स्थिति को काकु वक्रोक्ति कहा जाता है-

गुरुजनपरतन्त्रतया दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।
अलिकुलकोकिललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयोऽसौ।।

गुरुजनों की आज्ञा से विदेश जाने को वे तैयार हुए। इसलिए हे सखि, भंवरों एवं कोयलों के मधुर ध्वनि के समय (वसन्त में) वे नहीं लौटेंगे।यहाँ नायिका द्वारा अपनी सखी से कही गई बात है। दूसरे वाक्य को सहेली यों कहती है- **'अलिकुलकोकिललललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ?'** अर्थात् क्या वे वसन्त में नहीं आएंगे? अर्थात् अवश्य आएंगे (एष्यत्येव)। इस प्रकार काकु से विपरीत अर्थ लिए जाने के कारण यहाँ 'काकुवक्रोक्ति' अलंकार है।

4.5.2. अनुप्रास अलंकार

आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश के नवम उल्लास में शब्दालंकारों के वर्णन-क्रम में अनुप्रास का विवेचन किया है, जिसका लक्षण है- 'वर्णसाम्यमनुप्रासः।' अर्थात् वर्णों की समानता (आवृत्ति) को अनुप्रास कहा गया है। भले ही व्यंजनों के साथ संयुक्त स्वरों में समानता न हो, लेकिन व्यंजनों में समानता होनी चाहिए। ऐसा होने पर अनुप्रास अलंकार होगा। अनुप्रास की व्युत्पत्ति की गई है-'रसादि अनुगतं प्रकृष्टश्च न्यास: इति अनुप्रासः।' अर्थात् रसादि के अनुकूल वर्णों के प्रकृष्ट सन्निवेश को ही 'अनुप्रास' कहा जाता है। और वह अनुप्रास पहले वर्णानुप्रास और पदानुप्रासरूप से दो प्रकार का होता है। उसमें वर्णानुप्रास के छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास ये दो भेद होते हैं। पदानुप्रास का दूसरा नाम 'लाटानुप्रास' भी है। यह 1. अनेक पदों की आवृत्ति , 2. एक पद की आवृत्तिरूप, 3. एक समास में आवृत्तिरूप, 4. भिन्न समास में आवृत्तिरूप,5. समास तथा असमास दोनों में आवृत्तिरूप, इस तरह से लाटानुप्रास पाँच प्रकार का होता है।

वर्णानुप्रास के दो भेद होते हैं - 'छेकवृत्तिगतो द्विधा।'

छेकगत ओर वृत्तिगत इस प्रकार वर्णानुप्रास दो प्रकार का होता है।'छेक' शब्द का अर्थ 'चतुर व्यक्ति' है और वृत्ति अर्थात् वर्णों से रहने वाला रसविषयक (व्यंजना) व्यापार है।

छेकानुप्रास— 'सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः'। अर्थात् अनेक वर्णों का एक बार आवृत्तिरूप साम्य प्रथम छेकानुप्रास कहलाता है। जैसे-

ततोऽरूण-परिस्पन्दममन्दीकृतवपुः शशी।
दध्रे कामपरिक्षामकामिनीगण्डपाण्डुताम्।।

अर्थात् यह रात्रियुद्ध के बाद प्रभातवर्णन का प्रसंग है। तब प्रातः काल के समय सूर्य के सारथि अरुण के गतिशील होने से मलिन स्वरूपवाला चन्द्रमा काम के उपभोग से दुर्बल कामिनी के कपोलस्थल के समान सफेद हो गया।

वृत्यनुप्रास— 'एकस्याप्यसकृत्परः' अर्थात् एक वर्ण का भी और अनेक वर्णों का भी अनेक बार का आवृत्तिरूप,साम्य होने पर दूसरा अर्थात् वृत्यनुप्रास कहलाता है।वृत्यनुप्रास में आवृत्तिरूप शब्द समझना आवश्यक है। यहाँ वृत्ति का अर्थ रीति, संघटना, शैली या मार्ग से है। इसमें गुण का भी समन्वय देखा जाता है। आचार्य उद्भट ने अपने काव्यालंकार-संग्रह ग्रन्थ में तीन प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है-उपनागरिका (मधुरा), कोमला और परूषा।

आचार्य मम्मट ने परिभाषा की है—

माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैरूपनागरिकोच्यते। अर्थात् माधुर्यव्यंजक वर्णों की जहाँ आवृत्ति हो, वहाँ उपनागरिका वृत्ति होती है। आचार्य वामन ने इसे वैदर्भी रीति कहा है।

ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परूषा। अर्थात् ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त परूषा वृत्ति और वामन के मत में गौडी रीति कहलाती है।

लाटानुप्रास—

जहाँ पदों की आवृत्ति होती है, वहाँ लाटानुप्रास होता है। पदों की आवृत्ति में पुनरूक्ति दोष तथा पुनरूक्तवदाभास अलंकार होने की सम्भावना बनी रहती है। आचार्य मम्मट ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है— **शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः।** अर्थात् तात्पर्य मात्र से भेद होने पर शब्द की आवृत्तिहो, तो लाटानुप्रास होता है।

दक्षिणी गुजरात को लाट देश कहा जाता है। वहाँ के लोगों के प्रिय होने या वहाँ के कवियों द्वारा ऐसा प्रयोग किए जाने के कारण ही इसे लाटानुप्रास कहा जाता है। इसके लिए काव्यप्रकाश में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है-

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।।

अर्थात् जिसके समीप प्रियतमा नहीं है, चन्द्रमा उसके लिए दावानल की तरह हो जाता है और प्रियतमा जिसके पास होती है, दावानल उसके लिए चन्द्रमा की तरह शीतल अर्थात् आनन्ददायक होता है। इसमें अनेक पदों की आवृत्ति है। पूर्वार्द्ध में तुहिनदीधिति में दवदहनत्व

विधेय है और उत्तरार्द्ध में दवदहन में तुहिनदीधितत्व विधेय है। इसलिए उद्देश्य-विधेय भाव में भेद होने से तात्पर्यमात्र का भेद हो जाता है। अतः यह लाटानुप्रास का उदाहरण है।

4.5.3. यमक

लाटानुप्रास में पदों की आवृत्तिहोती है और उन आवृत्तिपदों में पद या प्रातिपादिक का अर्थभेद नहीं, केवल तात्पर्य मात्र में भेद होता है। यमक में वर्णों की आवृत्ति होती है। वे आवृत्ति वर्ण यदि सार्थक हों तो उनके अर्थ का भेद होना आवश्यक है। अन्यथा कहीं एक सार्थक दूसरा अनर्थक भी हो सकता है। परन्तु जहाँ दोनों भाग सार्थक हों वहाँ उनका भिन्नार्थकत्व अनिवार्य है। यही लाटानुप्रास से यमक का भेद हैं। इसी बात को यमक के लक्षण में दिखलाते हैं-

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः।
यमकं पादतद्भागवृतद्यात्यनेकताम्।।

अर्थात् अर्थ होने पर (नियमेन) भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुनः श्रवण (पुनरावृत्ति) यमक नामक शब्दालंकार कहलाता है। यमक अलंकार में यह आवश्यक नहीं कि आवृत्ति वर्ण दोनों स्थलों पर सार्थक ही हों। इसलिए लक्षण में 'भिन्नार्थानां' न लिखकर 'अर्थे सति अर्थभिन्नानां' यह रखा गया है। यही बात वृत्तिभाग में स्पष्ट करते हैं- यह राजा 'समरसमरस' युद्ध में एकरस है, इत्यादि में पहले बार के समर इन वर्णों के सार्थक और दूसरे बार के सम-रस को मिलाकर बने समर के अनर्थक होने से 'भिन्नार्थानां' यह नहीं किया जा सकता है, इसलिए यमक के लक्षण में 'अर्थे सति' यह कहा गया है। उसी क्रम से आवृत्ति 'सरो रसः' इस भिन्न क्रम से की गयी आवृत्ति में यमक नहीं होता है। इसलिए इससे भिन्नरूप से नहीं, अर्थात् उसी क्रम से स्थित वर्णों की आवृत्ति यमक में होनी चाहिए।आचार्य मम्मट का मानना है कि पद और उसके एकदेश (भाग) में रहने से वह यमक अनेक प्रकार का हो जाता है, अर्थात् यमक के अनेक भेद बन जाते हैं। वस्तुत: आचार्य मम्मट ने यमक के ग्यारह भेद कहे हैं—

1. 'मुख-यमक'।
2. प 'संदंश-यमक'।
3. प्रथम चरण की चतुर्थ चरण में आवृत्ति को 'आवृत्ति-यमक'।
4. द्वितीय चरण की तृतीय चरण में आवृत्ति होने पर 'गर्भ यमक'।
5. द्वितीय चरण की चतुर्थ चरण में आवृत्ति होने पर 'सन्दंष्ट यमक'।
6. तृतीय चरण की चतुर्थ चरण में आवृत्ति होने पर 'पुच्छ यमक'।
7. प्रथम चरण कीआवृत्तिद्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरणों में होने पर 'पंक्ति यमक'।
8. प्रथम चरण की द्वितीय चरण में और तृतीय चरण की चतुर्थ चरण में आवृत्ति होने पर 'युग्मक यमक'।

9. प्रथम चरण की चतुर्थ चरण में और द्वितीय चरण की तृतीय चरण में आवृत्ति होने पर 'परिवृत्ति यमक'।

10. श्लोक के पूर्वार्द्ध की उत्तरार्द्ध में आवृत्तिको 'पादभागावृत्ति' और

11. श्लोक की आवृत्ति को 'श्लोकआवृत्ति यमक' नाम दिया गया है।

उदाहरण-

सन्नारीभरणोमायमाराध्य विधुशेखरम्।
सन्नारीभरणोऽमायस्ततस्त्वं पृथिवीं जय।।

अर्थात् सती नारियों का भरण करने वाली अथवा आभरणरूपिणी जो उमा अर्थात् पार्वती उसको प्राप्त करने वाले (उमां याति अयते वा इति उमायः) विधुशेखर शिव की आराधना करके (सन्नाः विनाशिताः अरीणां इभा गजाः यत्र तादृशः रणो यस्य सः सन्नारी भरणः) शत्रुओं के हाथियों का विनाश करने वाले युद्ध के प्रवर्तक होकर उस शिव की आराधना से छल-कपटरहित आप पृथिवीं का जप करें। यह श्लोक रुद्रट के काव्यालंकार में आया है। इसमें 'सन्नारीभरणोमाय' यह प्रथम चरण तृतीय पाद के स्थान पर आवृत हुआ है।

4.5.4. श्लेष

प्रिय विद्यार्थियों! पिछले पाठ में यमक अलंकार पर चर्चा की गई थी। सम्प्रति श्लेष अलंकार पर चर्चा करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि श्लेष शब्दालंकार भी है और अर्थालंकार भी। यहाँ शब्द-श्लेष पर ही चर्चा होगी। काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने श्लेष-अलंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है-

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः, श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।।

अर्थात् अर्थभेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट (एकरूप) प्रतीत होते है, वह श्लेष अलंकार है। वह श्लेष, अक्षर आदि के भेद से आठ प्रकार का होता है।

'अर्थ की भिन्नता से शब्द भी भिन्न होते हैं'-इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थ-भेद के कारण भिन्न-भिन्न होने वाले भी शब्द जब-'काव्य के क्षेत्र में उदात्त आदि स्वर का विचार नहीं किया जाता' इस न्याय के अनुसार एक उच्चारण के द्वारा श्लिष्ट हो जाते हैं अर्थात् अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप को छिपा लेते हैं तथा एकरूप में भासित होते हैं वह शब्द श्लेषालंकार है और वह 1. वर्ण, 2. पद, 3. लिंग, 4. भाषा, 5. प्रकृति, 6. प्रत्यय, 7. विभक्ति, 8. वचन के भेद से आठ प्रकार का होता है। आचार्य मम्मट ने आठों प्रकार के सभंग श्लेष के उदाहरण दिए हैं।

वर्ण-श्लेष—

अलंकारः शंकाकरनरकपालं परिजनो

विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको बहुवयाः।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
र्विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वयं के पुनरमी।।

अर्थात् देखने वाले के हृदय में भय का संचार करने वाली मनुष्यों की खोपड़ी की हड्डी उनका अलंकार है। गलित अंगों वाला भृंगी नामक शिवजी का एक विशेष गण उनका सेवक है और एक अत्यन्त बूढ़ा बैल उनकी सम्पत्ति है। समस्त देवताओं के मान्य गुरु शिवजी की भी टेढ़े चन्द्रमा या भाग्य के मस्तक पर स्थित होने पर जब यह दुखस्था है, तब क्षुद्र कीटसदृश अत्यन्त तुच्छ हमारी तो गिनती ही क्या है।

यह श्लोक वर्णश्लेष का उदाहरण है। इसमें 'विधौ' पद में वर्णश्लेष है। 'विधि' और 'विधु' दो अलग-अलग शब्द हैं, विधि का अर्थ भाग्य और विधु का अर्थ चन्द्रमा है। इन दोनों शब्दों का सप्तमी के एकवचन में 'विधौ' यह समानाकार एक ही रूप बनता है। केवल इकार और उकार वर्णों के भेद से अर्थभेद होता है, इसलिए यह वर्णश्लेष का उदाहरण है।

पदश्लेष—

पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्।।

अर्थात् कोई याचक किसी राजा के सामने कह रहा है कि इस समय मेरा और आपका घर एक समान अवस्था में है। दोनों घर की समता वह तीन श्लिष्ट पदों द्वारा दिखला रहा है। इसमें 'पृथुकार्तस्वरपात्रं' 'भूषितनिःशेषपरिजन तथा 'विलसत्करेणुगहनं' इन तीन पदों में श्लेष है। इनमें से पहला पद 'पृथुकार्तस्वरपात्रं' है। इसके दोनो पक्षों में अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार है। 'पृथुकानां बालानाम् आर्तस्वरस्य पात्रं' अर्थात् मेरा याचक का घर बालकों के रोने का स्थान है, मेरे घर में भूखे बालक रो रहे हैं, और आपका (राजा का) घर 'पृथूनि महन्ति कार्त्तस्वरस्य सुवर्णस्य पात्राणि यस्मिस्तत् पृथुकार्तस्वरपात्रं' सोने के बड़े-बड़े बरतनों से युक्त है।दूसरा पद 'भूषितनिःशेषपरिजनं' है। इसका राजा के पक्ष में 'भूषित' अर्थात् अलङ्कृत है सारे परिजन, सेवक आदि जिसमें यह अर्थ होता है, और याचक के पक्ष में 'भूवि पृथिव्याम् उथिताः सर्वे परिजनाः यस्मिन्' जिसमें परिवार के सारे लोग जमीन पर पड़े हुए है यह अर्थ होता है। इसमें 'भूषित' एकपद को अथवा 'भूषितनिश्शेषपरिजनं' इस समस्त पद को श्लिष्ट मानकर पदश्लेष कहा गया है। इसी प्रकार 'विलसत्करेणुगहनं' यह तीसरा श्लिष्ट पद है। राजा के पक्ष में 'विलसन्तीभिः करेणुभिर्गहनं व्याप्तं' अर्थात् झूमती हुई हथिनियों से युक्त यह अर्थ होता है और याचक के पक्ष में 'विले सीदन्ति इति विलसत्काः' मूषकाः तेषां रेणुः धूलिः तया गहनं अर्थात् चूहों के खोदे हुए बिलों के धूल से भरा हुआ मेरा घर है यह अर्थ होता है। अतः यह पदश्लेष का उदहारण है।

हे राजन! इस समय हम दोनों का घर 'पृथुकार्तस्वरपात्र' 'बच्चों के रोने का स्थान तथा, बड़े-बड़े सोने के पात्रों से युक्त, भूषितनिःशेषपरिजन' पृथिवी पर लोटते हुए परिजनों वाला तथा

अलङ्कृत परिजनों वाला और 'विलसत्करेणुगहनं' चूहों की मिट्टी से भरा हुआ तथा झूमती हुई हथिनियों से भरा हुआ, होने से एक समान हो रहा है।

लिङ्गश्लेष तथा वचनश्लेष—

भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीतेहितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मी दृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरूता भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः।।

शाण्डिल्य मुनि ने भक्तिसूत्र नामक ग्रन्थ में 'अथातो भक्ति जिज्ञासा सा परानुरक्तिरीश्वरे' इस प्रकार ईश्वर के विषय में परानुरक्ति को भक्ति नाम से कहा है उस भक्ति नम्र हुए भक्तजनो को कृपापूर्वक देखने के लिए अनुरागयुक्त, नील कमलों के सदृश सुन्दर हित रूप मोक्ष की प्राप्ति के लिए समाधिस्थ योगियों द्वारा अपने ध्यान के विषय बनाए हुए, अपरिमित सौन्दर्य का आधार अपनी पत्नी लक्ष्मी के नेत्रों में रसिकता को उत्पन्न करने वाले, हरि, विष्णु के दोनों नेत्र तुम्हारी भवबाधा को दूर करें।

अथवा तनुपक्ष के 'भक्तिप्रह्वानां विलोकनप्रणयो दर्शनानुरागो यस्यां सा भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी' भक्तजन जिसको अनुराग पूर्वक देखते है, रंग तथा सौन्दर्य दोनो में नीलकमलों के साथ स्पर्धा करने वाली नीलकमलों के सदृश, ईहितप्राप्तये अभीष्टसिद्धि के लिए समाधिस्थ योगियों द्वारा चिन्तन की जाने वाली ध्यान का विषय बनायी हुई, सौन्दर्य की महानिधि तनुपक्ष में 'महानिधिः रसिकतां' इन पदों के बीच के विसर्गों का 'रो रि' सूत्र से लोप होकर 'ढलोपेपूर्वस्य दीर्घोऽणः' सूत्र से दीर्घ होकर 'महानिधी' पद बनता है। नेत्र पक्ष में निधिशब्द को जहल्लिङ्ग मानकर 'महानिधी' यह प्रथमा के द्विवचन का प्रयोग है। लक्ष्मी के नेत्रों में रसिकता को उत्पन्न करने वाली विष्णु की देह तुम्हारी भवपीड़ा का नाश करे। यह तनु पक्ष में एकवचन तथा नेत्रे पक्ष में द्विवचन होने से वचनश्लेष का उदाहरण भी है। इसलिए श्लेष के आठवें भेद वचनश्लेष का उदाहरण आगे नहीं देगें।

भाषाश्लेष—

महदेसुरसन्धम्मे तमवसमासङ्गमागमाहरणे।
हरवहुसरणं तं चित्तमोहमवसरउमे सहसा।।

हे आनन्ददायिनि महदे गौरी! वेद विद्या के उपार्जन में मेरे उस अनुराग को बनाये रखो और अवसर पर कभी उत्पन्न होने वाले उस प्रसिद्ध चित्त के अज्ञान या मोह को तत्काल मिटा दो।प्राकृत भाषा के पक्ष में इस श्लोक की संस्कृत-छाया और अर्थ निम्नलिखित प्रकार होगा—

मम देहि रसं धर्मे तमोवशाम् आशां गमागमात् हर नः।
हरवधु शरणं त्वं चित्तमोहोऽपसरतु मे सहसा।।

हरवधु पार्वती जी ! आप मेरी एकमात्र शरण हो, आप सदा धर्म में मेरा प्रेम बनाये रहो और गमो गमनं मरणम्, आगमः आगमनं पुनर्जन्म यस्मिन् तस्मात् गमागमात् संसारात् संसार की ओर से हमारी अज्ञानमयी तमोवशां सुखप्राप्ति की आशा को मिटा दो, जिससे मेरा चित्त का अज्ञान दूर हो जाये।

प्रकृतिश्लेष—

अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति।
सामर्थ्यकृद मित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः।।

इसमें 'वक्ष्यति' यह रूप 'वह' धातु तथा 'वच' धातु दोनों का लृट लकार में एक सा ही बनता है। इसलिए 'धारण करेगा' और 'कहेगा' ये दोनों अर्थ इसके होते है। इसी प्रकार 'सामर्थ्यकृत्' इस पद में सामर्थ्य के उपपद रहते 'डुकृञ्′करणे' और 'कृतीछेदने' दोनों धातुओं से 'सामर्थ्य करोति इति सामर्थ्यकृत्' तथा 'सामर्थ्यं कृतन्ति छिनत्ति विनाशयति इति सामर्थ्यकृत् यह एक सा ही रूप बनता है। दोनों जगह वह और वच धातु के लृट लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन के तिप् प्रत्यय के तथा डुकृञ्′ और कृती धातु के क्विप् प्रत्यय के समान होने पर भी केवल धातुओं का भेद होने से यह प्रकृतिश्लेषका उदाहरण है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है-

यह राजा का पुत्र समस्त शास्त्रों का 'अपने' हृदय में 'वक्ष्यति' धारण करेगा, और 'ज्ञेषु' विद्वानों में 'वक्ष्यति' कहेगा तथा शत्रुओं 'अमित्राणां' की शक्ति का नाश करने वाला एवं मित्रों की शक्ति की वृद्धि करने वाला होगा।

प्रत्ययश्लेष —

रजनिरमणमौलेः पादपवलोक-
क्षणसमयपराप्तापूर्वसम्पत्सहस्रम्।
प्रमथनिवहमध्ये जातुचित् त्वत्प्रसादा-
दहमुचितरुचिः स्यान्नन्दिता सा तथा मे।।

कोई शिवका उपासक शिव जी की उपासना करते हुए अपने भविष्य में यह कामना कर रहा है कि-आपकी कृपा से कभी मैं 'रजनीरमणमौली', चन्द्रमौली' शिवजी के चरणकमलों के 'अवलोकन' दर्शन के साथ ही अपरिमित अपूर्व आनन्द को प्राप्तकर 'उनके' गणों 'सेवक समुदाय' के मध्य में उचित अनुरागयुक्त और 'नन्दिता नन्दकः स्याम्' आनन्द प्राप्त कराने वाला होऊँ तथा वहीं 'अर्थात् शिवजी के गणों के भीतर गणना ही 'मेरे लिए' नन्दिनो भावः 'नन्दिता' अर्थात् उनके प्रमुख अनुचर 'नन्दि' नामक गण' के नन्दी पद की प्राप्ति के समान् हो।

यहाँ 'स्यान्नन्दिता' पदों में प्रत्ययश्लेष है यह सन्धि किया हुआ रूप है। सन्धि का विच्छेद करने पर दो प्रकार को पदच्छेद निकलते है, एक 'स्यात्-नन्दिता' और दूसरा 'स्याम् नन्दिता'। अहं नन्दिता स्याम्' और 'सा-मे नन्दिता स्यात्' ये दो प्रकार के उसके अन्वय होते है।

अर्थात् 'स्याम्' और 'स्यात्' पदो में उत्तम पुरुष तथा प्रथम पुरुष के प्रत्यय भाग मात्र का भेद होने से प्रत्यय श्लेष है। इसी प्रकार 'नन्दिता' पद में 'नन्दिनो भावः नन्दिता' इस विग्रह में तद्धित का तत् प्रत्यय है और 'नन्दकः स्याम्' इस अर्थ वाले पक्ष में कृत् संज्ञक तृच प्रत्यय होता है इसलिए इन दोनों पदों में प्रत्यय मात्र का भेद होने से यह प्रत्यय श्लेष का उदाहरण है।

विभक्तिश्लेष— सुप तथा तिङ् विभक्तियों के श्लेष का उदाहरण

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः।
नयोपकारसाम्मुख्यमायासि तनुवर्तनम्।।

शिव का भक्त कोई डाकू अन्य लोगों के सामने प्रार्थना करते हुए, समीप में ही उपस्थित अपने पुत्र को दस्यु कर्म का उपदेश इस शिवोपासनापरक श्लोक से ही देते हुए कह रहा है कि-हे हर 'शिवजी महाराज!' आप सबके सर्वस्व हैं, और भव 'बन्धन' का नाश करने वाले हैं। नीति 'सदाचार या धर्मसंस्थापन' और 'साधुओं के परित्राणरूप' उपकार के अनुकूल 'परित्राणाय साधूनां धर्मसंस्थापनार्थाय च' शरीरव्यवहार 'अवतार धारणरूप व्यापार' को प्राप्त होते है। यह श्लोक का शिवस्तुतिपरक अर्थ है दूसरे पक्ष में हे पुत्र! त्वं सर्वस्य सर्वस्वं हर तू किसी को छोड़ मत सबका सब कुछ छीन ले और केवल माल छीनकर ही सन्तोष न कर, अपितु सब को जान से मारकर साफ कर देने के लिए उनके गलों को काटने पर में तत्पर हो जा। 'उपकार सामुख्यं नय' किसी के साथ उपकार अथवा अनुकूलता या कृपा मत कर बल्कि सदा की सबके प्रति आयासि वर्तनं तनु पीड़ा देने वाला व्यवहार कर।

यहाँ पर 'हर' तथा 'भव' पदों में विभक्तिश्लेष है। ये दोनों पद शिव के पर्यायवाचक है। इसलिए शिवपक्ष में ये दोनों सम्बोधन विभक्ति में सुबन्त पद हैं। दूसरे दस्युव्यापार की शिक्षा देने वाले पक्ष में ये दोनों तिङन्त क्रिया पद है। इसलिए इन दोनों में विभक्ति श्लेष है। यद्यपि विभक्तिश्लेष भी प्रत्ययश्लेष के अन्तर्गत हो सकता है, फिर भी उसके विशेष चमत्कारजनक होने से उसको अलग कहा गया है।इस प्रकार यहाँ तक श्लेष के सात उदाहरण दिये हैं वही वचन श्लेष का भी उदाहरण हो सकता है यह बात पहले कह चुके हैं। इसलिए इसका अलग उदाहरण नहीं दिया है।

अभङ्गश्लेष— भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत्।

अर्थात् प्रकृति प्रत्यय आदिका भेद न होने से पूर्वोक्त आठ प्रकार के सभङ्गश्लेषों से भिन्न अभङ्गश्लेष नवम् भेद भी हो सकता है।कारिका में 'अपि' शब्द भिन्न क्रम है अर्थात् जहाँ वह पढ़ा हुआ है वहाँ उसका अन्वय न होकर 'नवमः' शब्द के बाद उसका अन्वय होता है 'नवमोऽपि' भेदो भवेत्। अर्थात् आठ भेदों के अतिरिक्त नवम भेद भी है।

अभङ्गश्लेष का उदाहरण

योऽसकृत्परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः।

शतकोटिदतां विभ्रद्विबुधेन्द्रः स राजते।।

अर्थात् जो राजा अनेक बार 'परगोत्राणां', शत्रुवंशों के 'पक्षच्छेदक्षणक्षमः अर्थात् सहायकों के तनिक-सी देर में नाश कर देने में समर्थ है 'शतकोटीः कोटिशतं ददातीति शतकोटिदः तस्य भावः शतकोटिदता तां बिभ्रत्' शतकोटि उपरिमित धन को देने वाला 'विबुधेन्द्र' वह विद्वच्छिरोमणि देवराज के समान सुशोभित होता है। दूसरे इन्द्रपक्ष में शतकोटिः वज्रं तेन द्यतिखण्डयति इति शतकोटिदः।' तस्य भावः शतकोटिदता' वज्र से नाश करने की सामर्थ्यवाला, असकृत् अनेको बार 'परगोत्राणां' उत्तम पर्वतों के 'पक्षच्छेद' अर्थात् पंखा के काटने में क्षण में समर्थ है, वह देवराज इन्द्र शोभित होता है।यहाँ प्रकरणादि के द्वारा अनेकार्थक परगोत्रादि शब्दों के एक अर्थ में नियमन न होने से राजा परक और इन्द्रपरक दोनो ही अर्थ वाच्य है।इसलिए यहाँ श्लेष अलङ्कार है और यह अभङ्गश्लेष का उदाहरण है।

4.5.5 . पुनरुक्तवदाभास

विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहने वाली समानार्थक न होने पर भी समानार्थता-सी जो प्रतीति होती है वह पुनरुक्तवदाभास अलंकार कहलाता है।

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम्।।

अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप वाले सार्थक और अनर्थक शब्दों में आपाततः एकार्थकता की प्रतीति होना ही पुनरुक्तवदाभास नामक अलंकार होता है अर्थात् पुनरुक्तिसी प्रतीत होती है, किन्तु वस्तुतः होती नहीं। यह दो प्रकार का होता है-

शब्दमात्रगत तथा शब्दार्थगत। शब्दमात्र में होने वाला भी दो प्रकार का होता है-

(क) सभंग शब्दनिष्ठ और

(ख) अभंग शब्दनिष्ठ।

सभंग शब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण-

अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः।
भाति सदानत्यागः स्थिरतयामवनितलतिलकः।।

अर्थात् शत्रुविनाशिनी चेष्टा वाले योद्धाओं को प्रेरित करने वाला और जिसके अश्व तथा पदाति सहसा शीघ्र रथियों के साथ भली प्रकार मिल गये हैं, इस प्रकार का तथा स्थिरता में पर्वत के समान और भूतल का भूषणरूप राजा सदा विनम्रता से शोभित होता है। प्रस्तुत पद्य में देह-शरीर, सारथि-सूत और दान-त्याग शब्दों की आपाततः पुनरुक्ति सी प्रतीति होती है, किन्तु अन्त में पुनरुक्ति नहीं रहती है। ये शब्द सभी सभंग हैं। इसलिए यह शब्दनिष्ठ सभंग पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण है। देह-शरीर में दोनों शब्द सार्थक और सभंग हैं। सारथि-सूत में पहला शब्द अनर्थक और दूसरा सार्थक है और दोनों सभंग हैं। दान-त्याग दोनों अनर्थक और सभंग हैं। इनमें से किसी

का परिवर्तन कर देने पर यह अलंकार नहीं रह सकता है। इसलिए शब्दपरिवृत्यसह होने के कारण शब्दालंकार माना जाता है। आगे अभंग शब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण देते हैं-

चकासत्यङ्गनारामाः कौतुकानन्दहेतवः।
तस्य राज्ञः सुमनसो विबुधाः पार्श्ववर्तिनः।।

अर्थात् उस राजा के पार्श्ववर्ती सुन्दरी स्त्रियों के साथ रमण करने वाले, काव्यचर्चा आदि के द्वारा आनन्द प्रदान करने वाले सुन्दर मन वाले सहृदय और विद्वान् पार्श्ववर्ती मित्र शोभित होते हैं।

इस पद्य में अंगनाः-रामाः, कौतुक-आनन्द और सुमनसोविबुधाः शब्द आपाततः पुनरुक्त से प्रतीत होते हैं, परन्तु अर्थ का विचार करने पर पुनरुक्ति नहीं रहती है। ये शब्द अलंकार हैं। इनमें शब्दपरिवृत्तिसहत्व नहीं है। इसलिए यह श्लोक अभंग पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण है।इसके अलावा यह पुनरुक्तवदाभास शब्द तथा अर्थ दोनों के आश्रित उभयालंकार होता है। उदाहरण है-

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुंजररूधिररक्तनखरः।
तेजोधाममहः पृथुनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णुः।।

अर्थात् यह सिंह कृशशरीर होने पर भी श्रेष्ठ अत्यन्त बलवान् बड़े श्रेष्ठ हाथियों के रक्त से रंगे हुए तीक्ष्ण नखों वाला, तेज का धाम, तेज के कारण उदार मन वालों का राजा और विजयशील है।इसमें तनु, रक्त, कुंजर इत्यादि कुछ पदों का परिवर्तन कर देने पर यह अलंकार नहीं रहता है, इसलिए उस अंश में शब्दाश्रित है। और वपुः, करिः, रूधिर आदि दूसरों का परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार की हानि नहीं होती है, इसलिए उस अंश में अर्थनिष्ठ है। अतः यह उभयालंकार होता है।चित्र अलंकार का भी वर्णन काव्यप्रकाश में किया गया है।

4.6. सारांश

इस इकाई में अलंकार के स्वरूप एवं शब्दालंकार के 5 भेदों की चर्चा की गई। वैसे आचार्य मम्मट ने भी अलंकारों की उपस्थिति को आवश्यक रूप से स्वीकार किया है, लेकिन उनका कहना है कि यदि कहीं अलंकार न हो और शब्द तथा अर्थ दोष- रहित और गुण के साथ हैं, तो भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। श्लेष एवं काकु के भेद से वक्रोक्ति अलंकार की विशद चर्चा की गई। अर्थात् रसादि के अनुकूल वर्णों के प्रकृष्ट सन्निवेश को ही 'अनुप्रास' कहा जाता है। इस क्रम में अनुप्रास के सभी प्रकारों की उदाहरण सहित व्याख्या की गई। अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुनः श्रवण यमक नामक शब्दालंकार कहलाता है। अर्थभेद के कारण भिन्न-भिन्न होकर भी जहाँ शब्द एक उच्चारण के विषय होते हुए श्लिष्ट प्रतीत होते हैं वहाँ श्लेष अलंकार है। उसके वर्ण पर, लिंग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचन के भेद से

आठ प्रकारों की चर्चा यहाँ की गई। इन सबके साथ पुनरुक्तवदाभास अलंकार का भी निरूपण किया गया। आचार्यों ने इस अलंकार को उभयालंकार की कोटि में रखा है। विभिन्न स्वरूप के शब्दों में रहने वाली समानार्थक न होने पर भी समानार्थकता सी जो प्रतीति होती है वह पुनरुक्तवदाभास अलंकार कहलाता है।

4.7. शब्दावली

1.	अंगद्वारेण	=	गौणरूप से
2.	काकु	=	भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।
3.	सभंग	=	भंग-युक्त, सन्धि-विच्छेद/समास-विग्रह युक्त्
4.	अभंग	=	भंग-रहित, सन्धि-विच्छेद/समास-विग्रह रहित
5.	सुरभिसमयः	=	वसन्तकाल
6.	छेक	=	चतुर, विदग्ध
7.	विधुशेखर	=	चन्द्रमा
8.	सदनम्	=	गृह, भवन

4.8. सन्दर्भ ग्रन्थ

1.अमरकोश – अमरसिंह, चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी।

2- संस्कृत साहित्य का इतिहास . बलदेव उपाध्याय प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तूरबानगर , सिगरा वाराणसी।

3 - काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट, व्याख्याकार विश्वेश्वर पाण्डेय चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी ।

4.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1 . शब्दालंकार को परिभाषित कीजिए।

2. वक्रोक्ति अलंकार का वर्णन कीजिए।

3. अनुप्रास अलंकार को परिभाषित करते हुए उसके भेदों की चर्चा कीजिए।

4. व्याख्या कीजिए

वाच्यभेदेन भिन्नाः यद् युगपद्भाषणस्पृशः। श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।।

5. यमक अलंकार का भेद सहित निरूपण कीजिए।

इकाई-05 प्रमुख अर्थालंकार

उपमा, अनन्वय, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, अर्थान्तरन्यास का लक्षणोंदाहरण वर्णन

इकाई की रूपरेखा

5.1. प्रस्तावना

5.2. उद्देश्य

5.3. उपमा अलंकार

5.4. अनन्वय अलंकार

5.5 उत्प्रेक्षा अलंकार

5 .6. रूपक अलंकार

5.7. अपह्नुति अलंकार

5.8. अर्थान्तरन्यास

5.9. सारांश

5.10. शब्दावली

5.11. सन्दर्भ ग्रन्थ

5.12. निबन्धात्मक प्रश्न

5.1. प्रस्तावना

पिछली इकाई में शब्दालंकारों का वर्णन किया गया है। इस इकाई में अर्थालंकारों पर सोदाहरण चर्चा की जा रही है। अर्थालंकार से अभिप्राय है, ऐसे अलंकार जो शब्दपरिवृत्तिसह होते हैं अर्थात् यदि उन शब्दों का परिवर्तन करके उनके समानार्थक दूसरे शब्द प्रयुक्त कर दिये जाये तो भी अलंकारों की कोई हानि नहीं होती है, वे अलंकार शब्दाश्रित न होकर अर्थ के आश्रित होते जाते हैं। इसलिए अर्थालंकार कहलाते हैं। इस इकाई में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, अनन्वय, अर्थान्तरन्यास आदि कुछ प्रमुख अलंकारों के वर्णन आप के अध्ययन के लिए इस इकाई में प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

इसके पहले की काई में आपने शब्द पर आश्रित अलंकारों का अध्ययन किया है। प्रस्तुतवर्णन में काव्यप्रकाश के रचयिता आचार्य मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश के दशवें उल्लास में कहे गए अर्थालंकारों में से कुछ प्रमुख अलंकारों का वर्णन इस इकाई में उदाहरण सहित किया जा रहा है। अतः इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप इन अर्थालंकारों को बताने में सक्षम हो सकेंगे।

5.2. उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप—

- ❖ अर्थालंकार के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- ❖ सादृश्यमूलक अलंकारों के बारे में जान सकेंगे।
- ❖ उपमा, रूपक, अलंकारों के स्वरूप को समझ सकेंगे।
- ❖ उत्प्रेक्षा, अनन्वय अलंकारों के परिचय देने में सक्षम हो सकेंगे।
- ❖ अपह्नुति, अर्थान्तरन्यासअलंकार को परिभाषित कर सकेंगे।

5.3. उपमा अलंकार

काव्यप्रकाश' में बताए गए 61 अर्थालंकारों में उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण, रूपक, ससन्देह, भ्रान्तिमान, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, समासोक्ति आदि 29 अलंकार सादृश्यमूलक अलंकार हैं। इन सादृश्यमूलक अलंकारों का आधारभूत 'उपमा' अलंकार ही है। इसलिए मम्मट ने अन्य अलंकारों से पहले उपमा का निरूपण किया है।

उपमा अलंकार में 1. उपमान, 2. उपमेय, 3. साधारण धर्म या सादृश्य तथा 4. उपमावाचक शब्द इन चार का उपयोग होता है। 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' यहाँ चन्द्रमा उपमान और मुख उपमेय है। सौन्दर्य या मनोज्ञत्व उन दोनों का समानधर्म है और यथा, इव आदि शब्द उपमा के वाचक शब्द होते हैं। उपमान तथा उपमेय के समान धर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलंकार कहलाता है। परन्तु उपमा में उपमान तथा उपमेय का भेद होना

आवश्यक है। 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' इत्यादि स्थलों में भी सादृश्य का वर्णन किया गया है परन्तु इसमें उपमान तथा उपमेय दोनों एक ही हैं, अलग-अलग नहीं इसलिए यहाँ उपमा न होकर'अनन्वय अलंकार' होता है।

उपमा का लक्षण- साधर्म्यमुपमा भेदे।

उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा-अलंकार कहलाता है। उपमान और उपमेय का ही साधर्म्य होता है, कार्य-कारण आदि का नहीं, इसलिए उनका ही समानधर्म से सम्बन्ध ही उपमा है। लक्षण में 'भेद' शब्द का ग्रहण अनन्वय अलंकार से पृथक् करने के लिए है।

वह उपमा 1. पूर्णोपमा और 2. लुप्तोपमा के भेद से दो प्रकार की होती है। उपमान, उपमेय, साधारण-धर्म, इव आदि इन चारों का ग्रहण होने पर 'पूर्णोपमा तथा उन चारों में से एक या दो या तीन का लोप होने पर 'लुप्तोपमा' अलंकार होता है। इसके पश्चात् पुनः पूर्णोपमा के छह भेद होते हैं। श्रौती तथा आर्थी के भेद से वाक्यगत, समासगत, तद्धितगत तीन प्रकार की अत: कुल छह प्रकार की पूर्णोपमा होती है।

श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा का भेद—

उपमावाचक शब्दों में यथा, इव, वा आदि शब्दों तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दों के अर्थबोधन में कुछ भेद पाया जाता है। यथा, इव वा आदि शब्द उपमान के विशेषण होते हैं और सुनने के साथ ही साधारण धर्म के सम्बन्धरूप सादृश्य का बोध करा देते हैं, इसलिए उनके प्रयोग में 'श्रौती उपमा' कहलाती है। इसके विपरीत तुल्य, सदृश आदि दूसरे प्रकार के उपमावाचक शब्द कभी उपमान के साथ, कभी उपमेय के साथ, कभी दोनों के साथ अन्वित होते हैं। इसलिए उनमें विचार करने के बाद साधारण धर्म के सम्बन्ध की प्रतीति होती है, इसलिए उनके प्रयोग में 'आर्थी उपमा' मानी जाती है। वाक्यगत और समासगत श्रौती तथा आर्थी उपमा का भेद यथा, इव, वा आदि तथा तुल्य, सदृश आदि शब्दों के प्रयोग के आधार पर ही होता है।

वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा—

स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्रीर्न मुंचति।
प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा।।

स्वाधीनपतिका नायिका के समान विजयश्री प्रभाव के कारणभूत आपको स्वप्न में भी युद्धों में नहीं छोड़ती है। इस पद्य में 'स्वाधीनपतिका यथा' यह वाक्यगा श्रौती उपमा है। 'स्वाधीनपतिका' उपमान है, 'विजयश्रीः' उपमेय है। 'न मुंचति' यह अपरित्यागरूप साधारणधर्म और 'यथा' यह उपमावाचक शब्द है। अतः यहॉ पूर्णोपमा है।

वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण—

चकितहरिणलोललोचनायाः क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति।
सरसिजमिदमाननं च तस्याः सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते ।।

अर्थात् चकित भयभीत हरिणी के समान चंचल नेत्रो वाली उस नायिका का क्रोध से आरक्त मुख और यह हाथ में लिया हुआ कमल दोनो एक-से सम हो रहे हैं। इसलिए क्रोध से आरत नायिका का मुख नायक के मन में आनन्द उत्पन्न करता है। इससे सरसिज उपमान है, आनन उपमेय है, अरुण के समान कान्तिमत्व साधारणधर्म और समम् यह उपमावाचक शब्द है। 'सम के साथ समास न होने से वाक्यगा श्रौती उपमा है।

आर्थी पूर्णोपमा—

अत्यायतैंनियमकारिभिरुद्धतानां दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरूपायैः।

शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार।।

शौरि अर्थात् श्रीकृष्ण जिस प्रकार विष्णुरूप में अपनी चार भुजाओं से संसार को धारण करते है इस प्रकार राजा साम, दाम, दण्ड तथा भेदरूप चार उपायो से सदा संसार का पालन करता था,यह मुख्य वाक्यार्थ है।शेष पाँच विशेषण है जो विष्णु की भुजाओ तथा सामादि उपाय दोनो के पक्ष में लगते है।

तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण—

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गंगा भुजगवत्।

दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत्।।

अर्थात् इस राजा के गाम्भीर्य की गरिमा सचमुच गंगा के उपपति (अर्थात् समुद्र, गंगा के वास्तविक पति शान्तनु थे इसलिए समुद्र गंगा का उपपति हुआ) के समान है। और युद्धभूमि में यह ग्रीष्मकाल के सूर्य के समान बड़ी कठिनाई से देखा जाता है।यहाँ श्लोक के पूर्वार्द्ध में 'गंगाभुजंगवत्' अर्थात् 'समुद्र' उपमान 'तस्य' उपमेय 'गाम्भीर्यगरिमा' साधारण धर्म तथा 'गंगाभुजंगस्य इव' इति गंगाभुजंगवत्' इस विग्रह में 'तत्र तस्येव' सूत्र द्वारा षष्ठयन्त गंगा भुजंगस्य पद से इवार्थ में वति प्रत्यय होने से यह तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण होता है।

श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'निदाघाम्बररत्न' उपमान, 'सः' उपमेय, 'दुरालोकत्व' साधारण धर्म तथा 'निदानघाम्बररत्नवत् इस विग्रह में तृतीयान्त निदाघाम्बररत्नेन पद से 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस सूत्र द्वारा वति प्रत्यय होने से यह तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण है।

आइए आगे लुप्तोपमा के उदाहरण को समझते हैं।इसी प्रकार आचार्य ने क्रमशः सभी का उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसके पश्चात् लुप्तोपमा के 19 भेदों के भी सविस्तारपूर्वक लक्षण एवं उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

लुप्तोपमा का उदाहरण—

धन्यस्यानन्यसामान्यसौजन्योत्कर्षशालिनः।

करणीयं वचश्चेतः! सत्यस्यामृतं यथा।।

इसमें अमृत उपमान और वचन उपमेय है। परिणामसुर सत्व आदि उनका साधारण धर्म है, परन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण उनका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है। इसलिए यह धर्मलुप्तोपमा का उदाहरण है।

5.4. अनन्वय अलंकार

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे अनन्वय: ।

उपमानान्तरसम्बन्धाभावोऽनन्वय: ।

अर्थात् जब एक वाक्य में उपमान और उपमेय दोनो एक ही हों तो अनन्वय अलंकार होता है । है। 'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' राम और रावण का युद्ध राम और रावण के ही युद्ध के समान हैं । इसमें उपमान तथा उपमेय दोनों एक ही हैं, अलग-अलग नहीं इसलिए यहाँ उपमा न होकर'अनन्वय अलंकार' है।

5.5 उत्प्रेक्षा अलंकार

आचार्य मम्मट ने सादृश्यमूलक उत्प्रेक्षालंकार का लक्षण इस प्रकार दिया है- **सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।** प्रकृत अर्थात् वर्ण्य उपमेय की सम अर्थात् उपमान के साथ सम्भावना अर्थात् उत्कटैककोटिक सन्देह उत्प्रेक्षा कहलाती है। उदाहरण हैं-

उन्मेषं यो मम न सहते जातिवैरी निशाया-

मिन्दोरिन्दीवरदलदृशा तस्य सौन्दर्यदर्प:।

नीत: शान्तिं प्रसभमनया वक्रकान्त्येति हर्षा-

ल्लग्ना मन्ये ललिततनु! ते पादयो: पद्मलक्ष्मी।।

नायक की नायिका के प्रति उक्ति है- हे सुन्दर शरीर वाली प्रेयसि, मैं समझाता हूँ कि कमल की शोभा, इस हर्ष से तुम्हारे चरणों में गिर गई है कि इस कमल सदृश नेत्रों वाली सुन्दरी ने अपने मुख की कान्ति से उस चन्द्रमा के सौन्दर्यदर्प को बलपूर्वक निवारण कर दिया है जो मेरा (कमलशोभा का) सहजशत्रु है तथा रात्रि में मेरे विकास (उन्मेष) को सहन नहीं कर सकता। स्वाभाविक चरणशोभा उपमेय है, उनमें उपर्युक्त हर्ष के हेतु से चरणों में लिपटने वाली कमलशोभा (उपमान) की सम्भावना की गई है। अतएव हेतूत्प्रेक्षा अलंकार है।

क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण -

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवांजनं नभ:।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।।

अर्थात् मानों अंधकार अंगों को लिप्त (लेपन) कर रहा है, आकाश काजल सा बरस रहा है इससे दुर्जन की सेवा के समान दृष्टि व्यर्थ हो गई हैं।

यह पद्य 'मृच्छकटिकम्' से उद्धृत है। यहाँ अन्धकार की अगों में व्याप्ति को 'लेपन' के रूप में उत्प्रेक्षित किया गया है तथा कालिमा के प्रसरण में 'वर्षण' की सम्भावना की गई है, अतएव यहाँ क्रिया-स्वरूपोत्प्रेक्षा है। यहाँ 'इव' शब्द सम्भावना अर्थ में है।जब उत्प्रेक्षावाचक 'इव' पद हो और उसका सम्बन्ध क्रियापाद के साथ न होकर किसी अन्य पद के साथ हो उस स्थल पर उत्प्रेक्षा का निर्णय करना जरा कठिन हो जाता है। ऐसे स्थलों पर उत्प्रेक्षा का लक्षण

विशेषरूप से सहायक होता है। उपमा का प्राण सादृश्य है और उत्प्रेक्षा का प्राण सम्भावना है। उत्प्रेक्षावाचक शब्द हैं-

मन्ये शंके ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।

उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव शब्दोऽपि तादृशः।।

मन्ये, शंके, ध्रुवं, प्रायः नूनं ये उत्प्रेक्षावाचक शब्द हैं। इनका प्रयोग उपमा में नहीं होता है। इसलिए जहाँ इन शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ स्पष्टतः 'उत्प्रेक्षा' अलंकार समझ लेना चाहिए।

5.6. रूपक अलंकार

रूपयति एकतां नयतीति रूपकम् अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकट होने वाले उपमान तथा उपमेय में अभेद का आरोप ही रूपक है। यह अभेदारोप अत्यन्त साम्य के कारण होता है जैसे- 'मुखं चन्द्रः' या 'मुख चन्द्र' में मुख और चन्द्र के भेद को नहीं छिपाया गया तथा दोनों के अभेद की कल्पना की गई है। । रूपक का लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट कहते हैं- **तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।**

अर्थात् उपमान और उपमेय का (जिनका भेद प्रसिद्ध है उनका सादृश्यातिवश) जो अभेद वर्णन है वह रूपक अलंकार कहलाता है। भाव यह है कि जिन उपमान तथा उपमेय का भेद (वैधर्म्य) प्रकट (अनपह्नुत) है, उनमें अत्यन्त साम्य के कारण अभेद का आरोप करना रूपक है।

रूपक के तीन प्रकार हैं-(क) सांग (ख) निरंग और (ग) परम्परित। सांग रूपक भी दो प्रकार का है-समस्तवस्तु- विषयक, एकदेशविवर्ति। निरंग के भी दो भेद हैं-शुद्ध और मालारूप। परम्परित के श्लिष्ट तथा अश्लिष्ट रूप से प्रथमतः दो भेद हैं, फिर इनमें से प्रत्येक के शुद्ध और मालारूप में दो-दो भेद होकर चार भेद हो जाते हैं। इस प्रकार रूपक के आठ प्रकार हैं। जिनका विवेचन क्रमशः इस प्रकार है।

सांगरूपक -

ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-

न्यन्तर्द्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम्।

द्वीपाद् द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले

न्यस्तं सिद्धांजनपरिमलं लांछनस्यच्छलेन।।

अर्थात् चाँदनीरूप भस्म से व्याप्त होने के कारण धवलवर्ण, तारिकारूप अस्थियों को धारण किये हुए और अन्तर्धान (सब वस्तुओं को छिपा लेने) के व्यसन की रसिका, यह रात्रिरूप कापालिकी चन्द्रकलारूप कपाल में कलंक के बहाने से सिद्धांजन चूर्ण को रखे हुए द्वीप-द्वीपान्तरों में घूमती-फिरती है।उदाहरण में रात्रि के उपर कापालिकी का आरोप किया गया है। वही प्रधान रूपक है। उसके उपपादन के लिए अंगरूप में ज्योत्स्ना पर भस्म का, तारकों पर अस्थि का, चन्द्रमा पर

कपाल का और लांछन पर सिद्धांजन परिमल का आरोप किया गया है। ये सब अंगभूत रूपक हैं। यह समस्तवस्तुविषय सांगरूपक का उदाहरण है।

निरंग रूपक का उदाहरण-

कुरंगीवांगानि स्तिमितयति गीतध्वनिषु यत्
सखीं कान्तोदन्तं श्रुतमपि पुनः प्रश्नयति यत्।
अनिद्रं यच्चान्तः स्वपिति तदहो वेद्यभिनवां
प्रवृत्तोऽस्याः सेक्तुं हृदि मनसिजः प्रेमलतिकाम्।।

अर्थात् यह किशोरी नायिका गाने की आवाज सुनने पर हरिणी के समान अंगों को निश्चल कर लेती है, प्रियतम के एक बार सुने हुए समाचार को भी सखी से बार-बार पूछती है और बिना नींद के भी भीतर (एकान्त में) लेटी रहती है। इससे मैं समझती हूँ कि कामदेव ने इसके हृदय में नयी प्रेमलता को सींचना प्रारम्भ कर दिया है, यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। उदाहरण में प्रेम के ऊपर तालिका का आरोप किया गया है इसलिए रूपक है। उसके अंगरूप में और कोई रूपक नहीं आया है।

परम्परित रूपक का उदाहरण-

आलानं जयकुंजरस्य दृषदां सेतुर्विपद्वारिधेः
पूर्वाद्रिः करवालचण्डमहसो लीलोपधानं श्रियः।
संग्रामामृतसागरप्रमथनक्रीडाविधौ मन्दरो
राजन्! राजति वीरवैरिवनितावैधव्यदस्ते भुजः।।

अर्थात् हे राजन्! शत्रुओं की स्त्रियों को वैधव्य-प्रदान करने वाला अर्थात् शत्रुओं का नाश करने वाला आपका बाहु विजयरूप हाथी का बन्धनस्तम्भ आलान है, विपत्तिरूप सागर को पार करने के लिए पत्थरों का बना (पक्का) पुल है, तलवार के प्रचण्ड तेजरूप सूर्य का उदयाचल, लक्ष्मी के आराम करने का तकिया, संग्रामरूप अमृत के सागर का मंथन करने की क्रीडा में मन्दराचलरूप शोभित हो रहा है।यहाँ अलग-अलग शब्दों से वाच्य जयादि पर कुंजरत्वादि का आरोप होने पर भुजा पर आलान आदि का आरोप बनता है।

5.7. अपह्नुति अलंकार

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः।

अर्थात् प्रकृत (उपमेय) का निषेध करके जो अन्य अर्थात् उपमान की सिद्धि की जाती है वह अपह्नुति अलंकार कहलाता है। उपमेय को असत्य सिद्ध करके उपमान को ही सत्यरूप से जो स्थापित किया जाता है वह तो अपह्नुति होती है। यह अपह्नुति भी शाब्दी तथा आर्थी के भेद से दो प्रकार की होती है। जहाँ प्रकृत का निषेध शब्दतः किया जाता है वह शाब्दी अपह्नुति कहलाती है। आर्थी अपह्नुति में प्रकृत का निषेध करने के लिए कहीं कपटार्थक कहीं

परिमाणार्थक शब्दों का ग्रहण किया जाता है। और कहीं अन्य उपायों का भी अवलम्बन किया जाता है।

शाब्दी अपह्नुति का उदाहरण -

अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरूचः शैलतनये!
कलंको नैवायं विलसति शशांकस्य वपुषि।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे
रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि।।

अर्थात् हे पार्वति ! परिपूर्ण चन्द्रमा के शरीर अर्थात् वक्षःस्थल में प्रगल्भता को प्राप्त अत्यन्त प्रौढ़ यह कलंक नहीं दिखलाई देता है, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि इसके अमृत के प्रवाह के शीतल वक्षःस्थल पर रति से परिश्रान्त हुई रात्रिरमणी सो रही है। इसमें उपमेय भूत कलंक का निषेध करने उपमानभूत रात्रि की स्थापना की गयी है, इसलिए यह अपह्नुति अलंकार है। इसमें भी 'कलंको नैवायं' कहकर शब्दतः उपमेय का निषेध होने से यह शाब्दी अपह्नुति है। इस उदाहरण में प्रकृत का निषेध शब्दतः नहीं होता अपितु अर्थतः आक्षिप्त होता है, वहाँ आर्थी अपह्नुति होती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आर्थी अपह्नुति में कभी कपटार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा और कभी परिमाणार्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा प्रकृत के निषेध का बोधन किया जाता है।

कपटार्थक शब्द के प्रयोग द्वारा आर्थी अपह्नुति -

बत सखि! कियदेतत् पश्य वैरं स्मरस्य
प्रियविरहकृशेऽस्मिन् रागिलोके तथा हि।
उपवनसहकारोद्भासिभृंगच्छलेन
प्रतिविशिखमनेनोट्टंकितं कालकूटम्।।

अर्थात् हाय सखि, देखो तो प्रिय के विरह से दुबले हुए रागी लोगों के प्रति कामदेव का यह कितना वैरभाव है कि बगीचे के आम के बौरों पर बैठे हुए शोभित भौरों के बहाने से इसने अपने प्रत्येक बाण पर कालकूट विष लगा दिया है। यहाँ यह भौरों से युक्त आम के बौर नहीं है अपित काल कूट विषसहित कामदेव के बाण हैं यह प्रतीति होती है। इस प्रकार भ्रमरयुक्त सहकारों के बौरों का निषेध करके कालकूटयुक्त बाणों की स्थापना से यह आर्थी अपह्नुति का उदाहरण है।

5.8. अर्थान्तरन्यास

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।।

अर्थात् सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष का सामान्य के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंकार साधर्म्य तथा वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है।

साधर्म्य या वैधर्म्य से (1) सामान्य का विशेष से समर्थन (2) विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है वह **अर्थान्तरन्यास अलंकार 4 प्रकार का होता है। साधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण-**

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम्।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शंखमपि पीतम्।।

अपने ही दोष से जिनका मन व्याप्त हो रहा है। उनको अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी (विपरीत) बुरी जान पड़ती है। पित्त से पीड़ित (पाण्डु या कमला रोग से ग्रस्त पुरुष) को चन्द्रमा के समान शुभ्र शंख भी पीला दिखलाई देता है। यहाँ 'अपने मन में दोष होने पर अच्छी बात भी बुरी मालूम होती है' इस सामान्य सिद्धान्त का समर्थन 'पीलिया रोग के रोगी को शंख भी पीला दिखाई देता है' इस विशेष उदाहरण के द्वारा किया गया है। इसलिए यह साधर्म्य के द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण है।

5.9. सारांश

इस इकाई में आपने काव्यप्रकाश में आचार्य के द्वारा बताए गए 61 प्रकार के अर्थ पर आश्रित कुछ प्रमुख अलंकारों की परिभाषा तथा उदाहरण का अध्ययन किया है। इन अलंकारों के वर्णन आचार्य ने बहुत विस्तार से उदाहरणों की विवेचना के साथ अपने ग्रंथ में किया है । आपकी सुविधा के लिए संक्षिप्त रूप में उन सभी अलंकारों के वर्णन प्रस्तुत किए गए हैं । जो इस इकाई के लिए अपेक्षित है । उनमें उपमा ,अनन्वय , उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को सम्मिलित किया गया है। उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन उपमा-अलंकार कहलाता है। वह उपमा पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा के भेद से दो प्रकार की होती है। उपमेय की उपमान के साथ सम्भावना अर्थात् उत्कटैककोटिक सन्देह उत्प्रेक्षा कहलाती है और भिन्न-भिन्न प्रकट होने वाले उपमान तथा उपमेय में अभेद का आरोप ही रूपक है। यह अभेदारोप अत्यन्त साम्य के कारण होता है। सांग, निरंग तथा परम्परित के भेद से रूपक के तीन मुख्य प्रकार हैं। और जहाँ उपमेय का निषेध करके जो अन्य अर्थात् उपमान की सिद्धि की जाती है वह अपह्नुति अलंकार कहलाता है। यह अपह्नुति शाब्दी तथा आर्थी के भेद से दो प्रकार की होती है। तत्पश्चात् अर्थान्तरन्यास अलंकार की भी व्याख्या की गई। सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा अथवा विशेष का सामान्य के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंकार कहलाता है।

इस इकाई का भली-भांति अध्ययन कर लेने के बाद आप प्रस्तुत इकाई में बताए गए अलंकारों की व्याख्या करने में सक्षम हो सकेंगे।

5.10. शब्दावली

1. सरसिजम् = कमल, पंकज
2. सुरतरुः = देववृक्ष

3. निदाघः = ग्रीष्म, उष्ण, तप
4. समेन = उपमान से
5. इन्दीवरः = नीलकमल
6. ज्योत्स्ना = चद्रिका
7. कुरंगी = हरिणी
8. कालकूटः = विष
9. द्युरत्नम् = सूर्य, भानु, भाष्कर, दिनकर
10. मकरकेतुः = कामदेव
11. मार्जारः = बिल्ली

5.11. सन्दर्भ ग्रन्थ

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास . बलदेव उपाध्याय प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तूरबानगर सिगरा वाराणसी।

2. -काव्यप्रकाश आचार्य मम्मट,व्याख्याकारविश्वेश्वर पाण्डेय चौखम्भा संस्कृत भारती वाराणसी ।

3. अलंकारसर्वस्व – रूय्यक।

4. काव्यप्रकाश - नागेश्वरी टीका।

5.12 . निबन्धात्मक प्रश्न

1- सोदाहरण व्याख्या कीजिए

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।

यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासो साधर्म्येणेतरेण वा।।

2- उपमा-अलंकार का सभेद निरूपण कीजिए।

3-उत्प्रेक्षा-अलंकार की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

4 -रूपक अलंकार का भेद के साथ निरूपण कीजिए।

चतुर्थ सेमेस्टर/SEMESTER-IV

खण्ड-03

काव्यशास्त्र की ऐतीहासिक परम्परा

इकाई- 01 ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय एवं काव्यस्यात्मा ध्वनिः
1.4 अभाववाद एवं भाक्तवाद का निरूपण
1.5 अनिर्वचनीयतावाद का निरूपण
1.6 वाच्य एवं प्रतीयमान अर्थ का निरूपण
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ
1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

नाट्यशास्त्र से लेकर आधुनिक काव्यशास्त्र पर्यन्त संस्कृत साहित्यशास्त्र की एक सुदीर्घ परम्परा दृष्टिगोचर होती है। साहित्यशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्यों में भरत- भामह- दण्डी- उद्भट- वामन- रुद्रट- आनन्दवर्धन- कुन्तक- महिमभट्ट- राजशेखर- धनिक- धनंन्जय- अभिनवगुप्त- भोजराज- क्षेमेन्द्र- मम्मट- शारदातनय- विश्वनाथ- रामचन्द्र-गुणचन्द्र- सिङ्गभूपाल- पं.राजजगन्नाथ- विश्वेश्वरप्रभृति अग्रगण्य हैं। इनमें से ध्वन्यालोकग्रन्थ के कर्ता कश्मीर निवासी श्रीमान् राजानक आनन्दवर्धन का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। इन्हें कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा से 'राजानक'नाम की सम्मानित उपाधि मिली थी। मूलतः वे कश्मीर के भट्ट ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम भट्टनोण था, यह बात कल्हण विरचित राजतरङ्गिणी ग्रन्थ से भी निश्चित होती है।आनन्दवर्धन का समय नवीं शताब्दी ईसा का मध्यभाग अर्थात् 850 ई. के आस-पास माना जाता है। राजतरङ्गिणी के अनुसार वे अवन्तिवर्मा के राज्य के प्रतिष्ठित कवियों में से थे। अवन्तिवर्मा कश्मीर के महाराज थे और उनका राज्यकाल सन् 855 ई. से 883 ई. तक था। इसके अतिरिक्त अन्य सूत्रों के आधार पर भी आनन्दवर्धन का काल निर्धारण सहज रूप से किया जा सकता है। जैसे - आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उद्भट व वामन के मत को उद्धृत किया है, और दूसरी ओर राजशेखर ने आनन्दवर्धन का उद्धरण दिया है, इससे यह स्पष्ट होता है कि वे उद्भट के पश्चात अर्थात् 800 ई. के बाद और राजशेखर के समय 900 ई. के पूर्व हुए थे। अतएव आनन्दवर्धन का समय नवीं शताब्दी ई. का मध्यभाग अर्थात् 850 ई. के आसपास माना जा सकता है।आप ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत का अध्ययन इस इकाई में करेंगे। आनन्दवर्धनाचार्य के द्वारा ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना, ध्वनिविरोधी मतों अभाववाद, भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद की विवेचना, वाच्य एवं प्रतीयमानार्थ का स्वरूप निरूपण, वाच्य से प्रतीयमान का भिन्नत्व निरूपण आदि विषय निर्धारित हैं जिनका अध्ययन विस्तारपूर्वक आप इस इकाई में करेंगे।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप-

- ध्वन्यालोक ग्रन्थ में वर्णित विषय-वस्तु को जान सकेंगे।
- ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से परिचित हो सकेंगे।
- ध्वन्यालोक के वैशिष्ट्य एवं महत्व को बताने में समर्थ हो सकेंगे।
- ध्वनिसिद्धान्त के प्रादुर्भाव के बारे में जान सकेंगे।
- वाच्य एवं प्रतीयमान अर्थ को बता सकेंगे।
- ध्वनिविरोधी मतों को विश्लेषण कर सकेंगे।

1.3 ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय एवं काव्यस्यात्मा ध्वनिः

ध्वन्यालोक ग्रन्थ चार उद्योत में विभक्त है जिसका मुख्यप्रतिपाद्य ध्वनिसिद्धान्त है। आनन्दवर्धन ने इस ग्रन्थ में काव्यसमालोचना के लिए एक सार्वभौम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। ग्रन्थ के प्रथम उद्योत में काव्यस्यात्मा ध्वनि की स्थापना, ध्वनिविषयक विप्रतिपत्तियों में अभाववाद, भाक्तवाद एवं अनिर्वचनीयतावाद का विश्लेषण, ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन, ध्वनिसिद्धान्त की भूमिका, वाच्य एवं प्रतीयमान अर्थ का निरूपण करते हुए प्रतीयमान की

श्रेष्ठता का निर्धारण, अभाववाद के विकल्पों का खण्डन, प्रतीयमान रस ही काव्यकी आत्मा, ध्वनि का स्वरूप निर्धारण, विभिन्न अलङ्कारों में ध्वनि के अन्तर्भाव का निषेध, ध्वनि के मुख्य दो भेदों का निरूपण, भाक्तवाद के विकल्पों का खण्डन अनिर्वचनीयतावाद का खण्डन प्रभृति विषय वर्णित हैं।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्वमुचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।।

अर्थ- काव्य के सारभूत जिस तत्व को विद्वान् लोग ध्वनि नाम से कहते आये हैं। कुछ अन्य विद्वान् लोगों ने उसका अभाव कहा है। दूसरे विद्वान् लोग उसे भाक्त अर्थात् गौण, लक्षणागम्य कहते है, और कुछ अन्य विद्वान् जन उस ध्वनि के तत्व को वाणी का अविषय अवर्णनीय, अनिर्वचनीय कहा। ध्वनि के विषय में इन विप्रतिपत्तियों के होने के कारण उनका निराकरण कर, तथा ध्वनि की स्थापना के द्वारा सहृदय के मन की प्रीति के लिए या प्रसन्नता के लिए हम उस ध्वनि के स्वरूप का निरूपण करते हैं।इसी तथ्य को ग्रन्थकार नें वृत्ति में और विस्तार से कहा है –

''बुधैः काव्यतत्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद्, म्नातः, प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः। तदभाववादिनां चामी विकल्पाः संभवन्ति।''

अर्थात् काव्य के मर्मज्ञ विद्वानों ने जिस सारभूत तत्व को 'ध्वनि' यह नाम दिया, और परम्परा से जिसको बार-बार प्रकाशित किया है, भली प्रकार से विशदरूप से अनेक बार प्रकट किया है, सहृदयजनों मन में प्रकाशमान भी उस (ध्वनि) का कुछ विद्वान् लोग अभाव कहते हैं, अर्थात् काव्य की आत्मा के रूप में उन्हें ध्वनितत्व मान्य नहीं था, अतः वे ध्वनि का अभाव मानते थे।

1.4 अभाववाद एवं भाक्तवाद का निरूपण

अभाववादियों के भी मुख्यतया तीन विकल्प हो सकते हैं जैसा कि ध्वनिकार ने निरूपित किया है-

प्रथमविकल्प- तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरन्तावत् काव्यम्। तत्र शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धम एव। अर्थगताश्चोपमादयः। वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते। तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम्। रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः। तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ?

इस पक्ष का मत है कि शब्द और अर्थ सम्मिलित रूप से काव्य है इनमें चारुता (सौन्दर्य, शोभा) का आधन दो प्रकार से हो सकता है- 1. स्वरूप में रहने वाली चारुता और 2. संघटना में रहनेवाली चारुता। वहाँ शब्द की स्वरूपनिष्ठ चारुता शब्दालङ्कार से निष्पन्न होती है, अर्थ की स्वरूपनिष्ठ चारुता उपमा आदि अर्थालङ्कारों से निष्पन्न होती है। इन शब्द-अर्थ के

संघटनाश्रित चारुता माधुर्यादि गुणों से निष्पन्न होती है। वृत्तियों और रीतियोंसे भी काव्य में चारुता सम्पन्न हो सकती है, परन्तु वे वृत्ति व रीति, गुण और अलङ्कार से भिन्न नहीं हैं।

वृत्तियाँ तीन हैं-

परुषा, उपनागरिका और कोमला, ये तीनों ही अनुप्रास के प्रकार है। इसी प्रकार वैदर्भी, पांचाली व गौडी रीतियाँ भी माधुर्यादि गुणों की ही समुदाय रूप है ।अत: वृत्ति व रीति अलङ्कार व गुण से भिन्न नहीं है, ये ही सब काव्य के चारुत्व के हेतु हैं। परन्तु उन सबसे भिन्न यह ध्वनि कौन सा नया पदार्थ है? अतः ध्वनिनामक तत्व को काव्य में सौन्दर्य का निष्पादक मानना नितान्त असङ्गत है, फलतः ध्वनि नामक पदार्थ की कोई स्थिति नहीं है।

अभाववाद का दूसरा विकल्प -

अन्ये ब्रूयुः नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः। सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत्संभवति। न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य तत् प्रसिद्धया ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते।

इस पक्ष का कहना है कि काव्य तो प्रसिद्ध प्रस्थानयुक्त है, अर्थात् काव्य की एक निश्चित परम्परा है, जिसे प्रस्थान कहते है, वह है सहृदयों के हृदय को आह्लादित करने वाली शब्दार्थयुगल की मनोहर योजना। इसके अतिरिक्त तो अन्य कोई भी काव्यमार्ग निश्चित नहीं है। अर्थात् गुणालङ्कार से सुसंस्कृत शब्दार्थगण शरीर होतो काव्य है। इसी में सहृदयों की भी सम्मति है। ध्वनि के विषय में तो ऐसा कोई सर्वसम्मत सिद्धन्त नहीं है। अर्थात् कतिपय सहृदयों के सम्मत होने पर की ध्वनि सम्पूर्ण विद्वत्समाज का हृदयावर्जन तो नहीं कर सकता है। अतः ध्वनि के विषय में भी कुछ भी कहना निरर्थक ही है।

अभाववाद का तृतीय विकल्प -

"पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः। न संभवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित्। कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात्। तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किंचन कथनं स्यात्। किं च, वाग्विकल्पानामानन्त्यात् संभवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधयिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे, ध्वनिर्ध्वनिरिति यदेतदलीकसह्यदयत्वभावनामुकलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः। सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च। न च तेषामेषा दशा श्रूयते। तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः। न त्वस्य क्षेदक्षमं तत्वं किंचिदपि प्रकाशयितुं शक्यम्।

अर्थात् ध्वनि नाम का कोई नवीन पदार्थ हो ही नहीं सकता है। यदि ध्वनि किसी प्रकार की कमनीयता का कारण है भी, तो वह उक्त काव्य में चारुत्व उत्पन्न करने वाले जितने साधन हैं उन्हीं के भीतर किसी मं ध्वनि का भी अन्तर्भाव हो जाएगा। अतः ध्वनि नाम की कोई विलक्षण वस्तु नहीं मानी जा सकती है। वाक्- विकल्पों का अर्थात् शब्द और अर्थ के प्रकारों का वैचित्र्य अनन्त है, अर्थात् शब्दार्थ के वैचित्र्य की कोई सीमा नहीं है। कितने ही आचार्यों के द्वारा शब्दार्थ की विचित्रता का प्रकाशन नाना प्रकार से किया गया है, प्रकाशित कर रहे है। इन्हीं विचित्रताओं में से एक विचित्रता का नाम ध्वनि किया जा सकता है।

अर्थात् ध्वनि को स्वतन्त्र रूप से मानना सर्वथा उचित नहीं है। फलतः गुण या अलङ्कार के किसी अप्रदर्शित प्रकार में ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है। इस सन्दर्भ में किसी अन्य (ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के समकालीन मनोरथ कवि) का श्लोक इस प्रकार है-

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किंचन मनःप्रह्लादि सालंकृति,
व्युत्पन्नै रचितं च नैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत् ।
काव्यं तद्ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो,
नो विद्यो अभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः।।

जिसमें अलंकारयुक्त, मन को आह्लादित करने वाला कोई वर्णनीय अर्थतत्व नही है । जो चातुर्य से युक्त सुन्दर शब्दों से विरचित नही हुआ है और जो वक्रोक्ति से शून्य है । इस प्रकार जो शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं माधुर्यादि गुणों से सर्वथा शून्य है, उसकी यह ध्वनि से युक्त काव्य है यह कहकर प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करनेवाला मूर्ख, किसी बुद्धिमान् के पूछने पर मालूम नहीं ध्वनि का क्या स्वरूप बतायेगा ।

भाक्तवाद—

अभाववाद के पश्चात् मूल कारिका में 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' से इस मत को उद्धृत किया गया है। जहाँ अभाववादियों के मतों की संभावना के कारण उसे 'जगदुः' इस लिट्लकार के द्वारा उपस्थापित किया गया था, वही 'भाक्तवाद' के मत को 'आहुः' इस वर्तमान कालिक क्रिया से अभिव्यक्त किया है और उसका कारण का स्पष्ट है कि भक्तिवादियों के मत साहित्यशास्त्रीयग्रन्थों में उपलब्ध् होते हैं। भक्ति या लक्षणावादी आचार्यों का कहना है कि ध्वनि का इसी लक्षणा में या लक्षणा का भेद जो गुणवृत्ति है उसी में अन्तर्भाव हो जाएगा। अतः ध्वनि नामक पृथक् तत्व मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्राचीन आचार्य लक्षणावृत्ति को भक्ति शब्द से भी कहते थे।

सेवार्थक भज् धातु से क्तिन् प्रत्यय द्वारा भक्तिशब्द निष्पन्न होता है। यहाँ भज्यते का अर्थ है प्रसिद्ध होने के कारण जिसकी उत्प्रेक्षा-सम्भावना की जाय वह भाक्ति है अर्थात् वाक्यार्थ के द्वारा तटादि का सामीप्यादि धर्म सम्भावित होता है। उस सामीप्यादि के निमित्त से प्रतीत होनेवाला लाक्षणिक अर्थ ही भाक्त है, अर्थात् लक्ष्यार्थ है ।

भक्तिवादियों का कहना है कि यद्यपि स्पष्ट रूप से प्राचीन आचार्यों ने ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव नहीं किया है, परन्तु उन्होंने काव्य में अमुख्य वृत्ति अर्थात् लक्षणा या गुणवृत्ति का प्रतिपादन करते हुए ध्वनितत्व को प्राथमिकता ही दी है, अतः ये आचार्य गुणवृत्ति नहीं किया न ध्वनित को प्राथमिकता ही दी है, अतः ये आचार्य गुणवृत्ति लक्षणा के अन्दर ध्वनि का समावेश करते थे। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है -

''भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं... काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः। यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृतिरन्यो वा न कश्चित्प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टोपि न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् ..... भाक्तमाहुस्तमन्ये' इति।

1.5 अनिर्वचनीयतावाद का निरूपण

ध्वनि विरोधी मतों में से तृतीय मत अनिर्वचनीयता वाद है। जिसे मूल कारिका में ध्वनिकार ने 'केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदीयम्' के द्वारा उपस्थापित किया है।

अनिर्वचनीयतावादी आचार्यों के मत में ध्वनितत्व का निर्वचन वाणी द्वारा नहीं हो सकता है, यह तो स्वतः अनुभूति का ही विषय है। परन्तु इसका लक्षण स्वरूपादि का निर्वचन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता है, यह तो केवल सहृदयहृदसंवेद्य ही है। **जैसे- केचित्पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः तेनैवंविधसु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः।**

अर्थ- लक्षणनिर्माण में अप्रगल्भबुद्धि किन्हीं (तीसरे वादी) ने ध्वनि के तत्व को केवल सहृदय-हृदयसंवेद्य और वाणी के परे (अलक्षणीय, अनिर्वचनीय) कहा है।

अतः इस प्रकार के मतभेदों विमतियों के होने के कारण सहृदयों के हृदयह्लाद के लिए हम उसका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं।

1.6 वाच्य एवं प्रतीयमान अर्थ का निरूपण

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।।

सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्य के आत्मारूप में प्रतिष्ठित है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो अर्थ कहे गये हैं। कारिका की वृत्ति में ध्वनिकार ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है- शरीर में आत्मा के समान, सुन्दर (गुणालङ्कारयुक्त) उचित (रसादि के अनुरूप) रचना के कारण रमणीय काव्य के साररूप में स्थित, सहृदयजन प्रशंसित जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान ये दो भेद है। यथा -

'काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुरूपः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ।'

कारिका भाग में आए हुए काव्यशब्द की व्याख्या करते हुए लोचनकार कहते हैं- 'ललित' शब्द से गुण और अलङ्कार का अनुग्रह (सहाकत्व) कहा है। 'उचित'शब्द से रसविषयक ही औचित्य होता है यह दिखाते हुए रसध्वनि का जीवितत्व सूचित करते हैं। वाच्य से यहाँ अलङ्कारके गुण, रीति आदि का ग्रहण किया है वाच्यार्थ का नहीं। जैसा कि स्वयं ध्वनिकार कहते हैं-

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरूपमादिभिः।
बहुध व्याकृतः सोऽन्यैः ततो नेह प्रतन्यते।।

उन दोनों में से (वाच्य-प्रतीयमान में से) वाच्य अर्थ वह है जो उपमादि (गुणालङ्कार) प्रकारों से प्रसिद्ध है और अन्यों ने (पूर्व लक्षणकारों, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट आदि) अनेक प्रकार से उनका प्रदर्शन किया है, व्याख्यान किया है, निरूपण किया है, इसलिए हम यहाँ उनका विस्तार से प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं, केवल आवश्यकता अनुसार, उपयोग के लिए उसका अनुवादमात्र करेंगे।

सहृदयों द्वारा प्रशंसित काव्यार्थ जो कि 'काव्यात्मा' के रूप में व्यवस्थित है, उसके दो भाग या अंश माने गए हैं, एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। उसमें वाच्य जो कि उपमादि प्रकारों से प्रसिद्ध है, तथा जिसका व्याख्यान (भामह, दण्डी, भट्टोद्भट, वामन, रुद्रट आदि) आचार्यों ने अनेक तरह से किया ही है, अतः आनन्दवधर्न के द्वारा उसका विस्तारपूर्वक निरूपण नहीं किया गया।प्रतीयमानार्थ के स्वरूप निर्धारण के द्वारा ही ध्वनिसिद्धान्त की सिद्धि होनी है, अतः ध्वनिकार ने प्रतीयमान का लक्षण निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है-

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं, विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।

प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो रमणियों के प्रसिद्ध (मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि) अवयवों से भिन्न ललनाओं के लावण्य के समान, महाकवियों वचनों में वाच्यार्थ से अलग ही विशेरूप में भासित होता है।

इसी तथ्य को कारिका की वृत्ति में ध्वनिकार के द्वारा और स्पष्ट किया गया है-

'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्याद्वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्। यत्सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वाऽवयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु। यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्य ..... तद्वदेव सोऽर्थः।'

प्रतीयमान महाकवियों के वचनों में वाच्यार्थ से भिन्न कुछ और ही विलक्षण वस्तु है, जिस प्रकार अङ्गनाओं में लावण्य (सौन्दर्य, कान्ति आभा-छटा आदि) अन्य समान अवयवों से पृथक् ही प्रकाशित होता है, और वही लावण्य सहृदय नेत्रों के लिए अमृततुल्य नयनानन्द जनक होता है इसी प्रकार व्यंजना वृत्ति से प्रतिपाद्य वह प्रतीयमान भी प्रसिद्ध वाच्यालङ्कारों से पृथक् ही है। जो सहृदयों के लिए आह्लादस्वरूप चमत्कृतिस्वरूप परमानन्द का जनक होता है, अतः वह प्रतीयमान कुछ विलक्षण ही तत्व है।

प्रतीयमान अर्थ की वाच्य से भिन्नता—

ललना-लावण्य तुल्य व्यङ्ग्यार्थ वाच्य से सामर्थ्य से आक्षिप्त वस्तु अलङ्कार व रसादि के रूप में उपलब्ध होता है। ध्वनि के इन सभी प्रकारों में वह ध्वन्यमान अर्थ या प्रतीयमानार्थ वाच्य से पृथक् ही होगा। यथा-

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रं, अलङ्काररसादयश्चेत्यनेक-प्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम्। तथा हि आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान्। स हि काचिद् वाच्ये विधिूपे प्रतिषेधरूपः।

वाच्य से व्यङ्ग्य की पृथक् सत्ता को ग्रन्थकार ने कई उदाहरणों के द्वारा प्रदर्शित किया है, जैसे- वाच्यार्थ कही विधि रूप है तो व्यङ्ग्यार्थ निषेधरूप होता है। इस प्रकार वाच्य व व्यङ्ग्य में महान् अन्तर है यथा-

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुंजवासिना दृप्तसिहेन ।।

इस पद्य में पहला (वस्तुध्वनि) भेद वाच्य से अत्यन्त भिन्न है। क्योंकि यहाँ वाच्य विधिरूप है तो वह प्रतीयमान प्रतिषेधरूप है।

पद्य का अर्थ- हे धर्मिक! गोदावरीनदी के किनारे कुंज में रहनेवाले मदमस्त सिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है, अब आप निश्चिन्त होकर घूमिये।

प्रस्तुत पद्य का प्रसङ्ग इस प्रकार है कि गोदावरी नदी के तट पर अपने प्रेमी के साथ रोज घूमने वाली किसी पुंश्चली (कुलटा) नायिका की यह उक्ति है किसी धर्मिक पण्डित जी के प्रति जो कि नित्य अपनी पूज्य (सन्ध्योपासना आदि) के लिए पुष्प-चयन हेतु उस गोदावरी के कुंज में पहुच जाता था। जिससे उस नायिका को अपने प्रणयप्रसङ्ग में बाधा होती थी। अतः वह चाहती है कि व ये पण्डितजी इधर न आया करें। वैसे बिना बात उनको आने का सीध निषेध् करना तो अनुचित और अनध्किार चेष्टा होती, इसलिए उसने सीध निषेध न करके उस प्रदेश में

म सिंह की उपस्थिति की उसने सीधा निषेध् न करके उस प्रदेश में सिंह की उपस्थिति की सूचना द्वारा पण्डितजी को भयभीत कर उसके रोकने का यह मार्ग निकाला है।

प्रकृत श्लोक में वह पण्डितजी को यही सूचना दे रही है, परन्तु एक विशेष ढङ्ग से। वह कहती है- हे धार्मिक! वह कुत्ता जो आपको रोज तङ्ग किया करता था उसे गोदावरी के किनारे कुंज में रहने वाले सिंह ने मार डाला है और अब आप निर्भय होकर भ्रमण करें। कुलटा नायिका जानती है कि पण्डितजी तो कुत्ते से ही डरते हैं, जब उन्हें मालूम होगा कि उसे सिंह ने मार डाला वह सिंह यहीं कुंज में रहता है तो निश्चय ही पण्डितजी भूलकर भी उधर आने का साहस नहीं करेंगे। इसलिए वह पण्डितजी को निश्चिन्त होकर भ्रमण करने का निमन्त्रण दे रही है, परन्तु उसका तात्पर्य यही है कि कभी भूलकर भी इधर पैर न रखना, नही तो आपकी खैर नहीं। इस श्लोक का वाच्यार्थ तो विधिरूप है परन्तु जो उससे प्रतीयमान अर्थ (वस्त ध्वनि) है वह निषेधरूप है इसलिए वाच्यार्थ से प्रतीयमान अर्थ अत्यन्त भिन्न है। कहीं वाच्य प्रतिषेधरूप है तो व्यङ्ग्य (प्रतीयमानार्थ) विधिरूप होता है-

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठा।।

हे पथिक! दिन में अच्छी तरह देख लो, यहाँ सासजी सोती हैं और यहाँ मैं सोती हूँ। रात के अन्धे (रतौंधी के रोगी) हे पथिक! कहीं हमारी खाट पर न गिर पड़ना।

प्रस्तुत मूल प्राकृत गाथा में यद्यपि वाच्यार्थ निषेधरूप है परन्तु व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमानार्थ) विधिरूप है। प्रकृत पद्य में यद्यपि वाच्यार्थ के द्वारा पथिक को निषेध् किया जा रहा है परन्तु प्रतीयमान के द्वारा वह विधिरूप में है।

इसी प्रकार कहीं वाच्यार्थ विधिरूप होता है तो व्यङ्ग्य (प्रतीयमान) अनुभय रूप में होता है अर्थात् व्यङ्ग्य न तो विधिरूप में होता है ना ही निषेधरूप में। यथा -

व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत।।

(तुम) जाओ, मै अकेली ही इन निःश्वास और रोने को भोगूँ (सो अच्छा है) कहीं दाक्षिण्य (समानुरागिता) के चक्कर में पड़कर, उसके विना तुमको भी यह सब न भोगना पड़े।

इस श्लोक में नायिका का प्रगाढ़ मन्यु (दुःख) प्रतीयमान है। वह न तो गमनाभावरूप निषेध ही है और न तो कोई दूसरा विधि (विध्यन्तर) निषेध का अभाव ही व्यङ्ग्य होता है। इसलिए यहाँ प्रतीयमान अर्थ अनुभयरूप है।

इसी प्रकार कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेध रूप होने पर प्रतीयमानार्थ अनुभयरूप होता है। जैसे -

प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमो निवहे।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे।।

(मैं) प्रार्थना करता हूँ मान जाओ, लौट जाओ। अरी अपने मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से गाढ-अन्धकार को दूर करने वाली, तुम अन्य अभिसारिकाओं (के कार्य) का भी विघ्न कर रही हो।यहाँ वाच्य प्रतिषेधरूप होने पर भी व्यङ्ग्य अनुभयरूप होने से प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ से अत्यन्त भिन्न है।

इस प्रकार विषय का ऐक्य होने पर भी वाच्य और व्यङ्ग्य का स्वरूपभेद से भेद दिखाया है। इस प्रकार वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान (वस्तुध्वनि) के और भी भेद हो सकते है, यहाँ तो उनका केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है। वस्तुध्वनि का वाच्यार्थ से भेद उपर्युक्त उदाहरणों

के द्वारा दर्शाया गया। इस प्रकार वस्तुध्वनि एवं अलङ्कारध्वनिरूप प्रतीयमान प्रभेद का वाच्यार्थ से भिन्नत्व का प्रतिपादन करके अब रसादिध्वनि का वाच्यार्थ से भिन्नत्व प्रदर्शित करते हुए कहते हैं-

रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविज्ञय इति वाच्याद् विभिन्न एव। तथा हि वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षं स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्ट विभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते न तु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्। न हि केवलं शृङ्गारादि शब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधनमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीना प्रतीति। केवलाच्च रसाभिवानादप्रतीति।

तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्व कथंचित्। इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरग्रे दर्शयिष्यते।'

तृतीय रसादिरूप ध्वनि का जो प्रभेद है, वह तो वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होता हुआ ही प्रकाशित होता है। अर्थात् व्यंजना से प्रतिपादित होने पर ही चमत्कार का आधान करता है, अन्यथा नहीं, रसादि शब्द से वह कदापि वाच्य नहीं हो सकता है। रसादि साक्षात् शब्दव्यापार (अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या शक्ति) का विषय नहीं होता है इसलिए वाच्यार्थ से भिन्न ही है।

अर्थात् विशिष्ट विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही रसादि की प्रतीति होती है, विभावादि शब्दाभाव में केवल रसादिशब्द द्वारा तो रस की प्रतीति नहीं होती है। संज्ञा शब्दों से वह केवल अनूदित होती है। उनसे जन्म नहीं होती है। क्योंकि दूसरे स्थानों पर उस प्रकार से वह दिखलायी नहीं देती।

इसलिए तीसरा (रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि रूप) भेद भी वाच्य से भिन्न ही है यह निश्चित है।

1.7 सारांश

ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत की इकाई के अध्ययन से आपने जाना कि साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ में ध्वन्यालोक का क्या महत्व है। ध्वन्यालोक का प्रतिपाद्य विषय काव्यस्यात्मा ध्वनि, ग्रन्थ का प्रयोजन, ध्वनिविषयक तीन विप्रतिपत्तियाँ, ध्वनिविरोधि तीन मतों का विश्लेषण, अभाववाद एवं उनके विकल्पों का निरूपण, भाक्तवाद की निरूपण, भक्ति की विवेचना, अनिर्वचनीयतावाद का निरूपण, ध्वनिनिरूपण का प्रयोजन, ध्वनिसिद्धान्त की भूमिका, वाच्यार्थ का स्वरूप, प्रतीयमानार्थ का स्वरूप एवं लक्षण, विविध् उदाहरणों के द्वारा प्रतीयमान का वाच्य से भिन्नत्वनिरूपण, वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि एवं रसादिध्वनि का वाच्य से भिन्नत्वनिरूपण प्रभृति विविध विषयों का अध्ययन आपने इस इकाई में किया। आपने जाना कि ध्वन्यालोक ग्रन्थ के द्वारा किस तरह साहित्यशास्त्र की दशा एवं दिशा परिवर्तित हुई, फलतः ध्वन्यालोक युगप्रवर्तकग्रन्थ सिद्ध हुआ। इस प्रकार इस इकाई के अध्ययन से आपने ध्वनिसिद्धान्त स्थापना की पृष्ठभूमि की जानकारी प्राप्त की है। काव्यशास्त्र की परंपरा में ध्वनि के

वर्णन के लिए ध्वन्यालोक के अलावा कोई भी इस प्रकार का प्रतिष्ठित ग्रंथ नहीं है। जिसमें इतना विस्तार से वर्णन किया गया हो। आचार्य आनंद वर्धन ने इस ग्रंथ में ध्वनि को काव्य की आत्मा मानने के लिए अपने मत की स्थापना का प्रयास किया है, जिसमें विभिन्न प्रकार के आक्षेप और समाधान बताए गए। चार उद्योत हैं, किंतु आप के अध्ययन के लिए प्रथम के वर्णन को ही केवल संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। जिसमें काव्य की आत्मा के विषय में विस्तार से विचार किए जाने हेतु तथ्यों का वर्णन किया गया है। दो प्रकार के अर्थ भी बताए गए हैं जिनमें पहला वाच्य है और दूसरा प्रतीयमान है। इस इकाई का अध्ययन कर लेने के पश्चात आप ध्वन्यालोक के प्रारंभिक अंश में किए गए वर्णनों को बताने में सक्षम हो सकेंगे।

1.8 शब्दावली

विप्रतिपत्ति	-	असहमति, आप्रति, मतों का विरोध, विरोधी मत।
विश्रुत	-	प्रसिद्ध, प्रख्यात।
युगप्रवर्तक	-	युग को प्रवर्तित करने वाला।
सार्वभौम	-	विश्वव्यापी, समस्त विश्व में व्याप्त।
सिद्धान्त	-	मत, प्रमाणि तथ्य, तर्क सहित निर्णीत मत या विचार।
समालोचना	-	आलोचना, समीक्षा, गुणदोष की विवेचना।
गुणीभूतव्यङ्ग्य	-	जहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की तुलना में कम चमत्कारी हो।
निर्विघ्न	-	बिना किसी विघ्न के।
चारुता	-	सुन्दरता, शोभा, रमणीयता।
प्रस्थान	-	पक्ष, पद्धति, प्रणाली, मत।
विलक्षण	-	अद्भुत, अपूर्व।
विचित्रता	-	सुन्दरता, मनोहर।

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. ध्वन्यालोकः आनन्दवर्धनाचार्य विरचित, व्याख्याकार- आचार्य जगन्नाथपाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

2. ध्वन्यालोक, व्याख्याकार- आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

3. ध्वन्यालोक संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीयविद्याप्रकाशन, दिल्ली

4.संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

5.ध्वन्यालोक,व्याख्याकार- के.कृष्णमूर्ति, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. अभाववाद की विवेचना कीजिए
2. भाक्तवाद का निरूपण कीजिए
3. प्रतीयमान अर्थ के स्वरूप को प्रतिपादित कीजिए
4. वाच्य से प्रतीयमान के भिन्नत्व का सोदाहरण वर्णन कीजिए

इकाई 2. काव्यप्रकाश प्रथम और द्वितीय उल्लास

इकाई की रूपरेखा

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 प्रथम उल्लास का वर्ण्य विषय

2.4 द्वितीय उल्लास का वर्ण्य विषय

2.5 सारांश

2.6 शब्दावली

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

काव्यशास्त्र के बीज तो वेद से ही पाए जाते हैं। किंतु आचार्य भरत मुनि से लेकर आधुनिक समय के काव्य शास्त्रियों तक की परंपरा में आचार्य मम्मट का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है । संस्कृत काव्यशास्त्र का सबसे प्रतिष्ठित और समन्वायवादी ग्रंथ आचार्य मम्मट का काव्यप्रकाश है। काव्यप्रकाश ग्रंथ में काव्यशास्त्र के तत्वों का विवेचन किया गया है। आचार्य ने इस ग्रंथ को 10 उल्लातसों में बांटा है। दसों विभागों में इस ग्रंथ के अंतर्गत काव्य के लक्षण, काव्य के प्रयोजन, काव्यय के कारण, शब्द तथा अर्थ का स्वरूप, शब्द और अर्थ के प्रकार, काव्य के प्रकार आदिका लक्षण और उदाहरण सहित विस्तार से विवेचन किया गया है। काव्य की परिभाषा और प्रयोजन का वर्णन करते समय आचार्य मम्मट ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए पूरी परंपरा का समन्वय स्थापित करके काव्य के लक्षण और प्रयोजन को पाठकों के समक्ष रखा है। काव्य के तीन भेद आचार्य ने स्वीकार किए हैं उत्तम मध्यम तथा अधम।

शब्द के भी तीन प्रकार माने गए वाचक रक्षक तथा व्यंजक। काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में मंगलाचरण के पश्चात आचार्य ने काव्य प्रयोजन ,काव्य के लक्षण और काव्य के प्रकारों का ही वर्णन किया है । द्वितीय उल्लास में शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन करते समय आचार्य ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है, जिसमें अभिहितान्वरयवाद तथा अन्विताभिधानवाद की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन करते समय उदाहरण के साथ काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने सभी तथ्यों का विशद विवेचन किया है।द्वितीय उल्लास में ही इन्होंने शब्द की शक्तियों की विस्तृत व्याख्या की है। जिसमें 6 प्रकार के लक्षणा मानी गयी हैं । शब्द की शक्तियां तीन प्रकार की हैं, अभिधा लक्षणा और व्यंजना।आचार्य मम्मट नें इन तीनों शक्तियों का लक्षण और उदाहरण सहित वर्णन प्रस्तुत किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में आचार्य मम्मट का जो योगदान है वह उल्लेखनीय है।

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप आचार्य मम्मवट द्वारा बताए गए काव्य के प्रकार, प्रयोजन तथा लक्षण, शब्द और अर्थ का स्वरूप जानने के साथ-साथ शब्द की शक्तियों की व्याख्या करने में भी समर्थ हो सकेंगे।

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप-

- ❖ काव्य के प्रयोजन के विषय में समझा सकेंगे ।
- ❖ काव्य के लक्षण के विषय में समझा सकेंगे ।
- ❖ काव्य हेतु के विषय में बता सकेंगे ।
- ❖ मम्मट प्रणीत शब्दार्थ स्वेरूप की बता सकेगें ।
- ❖ शब्द शक्तियों की व्याख्या कर सकेंगे।

2.3 प्रथम उल्लास का वर्ण्य विषय

आचार्य मम्मट ने सभी आचार्यों की अपेक्षा काव्य का समन्वयवादी प्रयोजन निरूपित किया है, मंगलाचरण के पश्चात् काव्यप्रकाश में काव्य के प्रयोजनों बताते हुए कहा गया है -

काव्यं यशसेर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।

सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ।।2।।

अर्थात् काव्य यश का जनक, अर्थ का उत्पादक,लोक -व्यवहार का बोधक, (शिव अर्थात् कल्याण, शिवेतर अर्थात् उससे भिन्न) अनिष्ट का नाशक, पढ़ने (या सुनने, देखने आदि) के साथ ही (सद्यः) परम आनन्द को देने वाला और स्त्री के समान (सरस रूप से कर्तव्याकर्तव्य का) उपदेश प्रदान करने वाला होता है।।2।।

काव्य लक्षण—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

दोषगुणालंकारा वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालंकारौ क्वचित्तु स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।

यथा -

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते।।1।।

अत्र स्फुटो न कश्चिदलंकारः। रसस्य च प्राधान्यान्नालंकारता।काव्य के साधन बतलाकर उसके स्वरूप को कहते हैं -

दोषों से रहित, गुण-युक्त और साधारणतः अलङ्कार सहित परन्तु कहीं-कहीं अलङ्कार-रहित शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि काव्य कहलाती है।

ग्रन्थकार यह कहते हैं कि साधारणतः सब जगह अलङ्कार सहित शब्द तथा अर्थ होने चाहिये परन्तु कहीं जहाँ व्यङ्ग्य रसादि की स्थिति विद्यमान हो वहाँ स्पष्ट रूप से अलङ्कार की सत्ता न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। जैसे -

जिन प्रियतम पतिदेव ने विवाह के बाद मेरे कुमारी भाव के सूचक योनिच्छद का भङ्ग करके कौमार्य का हरण किया, चिर उपभुक्त, मेरे कौमार्य का हरण करने वाले वे ही पतिदेव हैं, और आज फिर वे ही चैत्र मास की उज्ज्वल चाँदनी से भरी हुई रातें हैं, खिली हुई मालती की सुगन्ध से भरी हुई वायु बह रही है और मैं भी वहीं हूँ। सभी सामग्री पुरानी, चिर उपभुक्त होने से उसमें उत्कण्ठा होने का कोई अवसर नहीं फिर भी वहाँ नर्मदा के तट पर उस बेंत के पेड़ के नीचे जहाँ अनेक बार अपने पति देव के साथ मिलन कर चुकी हूँ। उन काम-केलियों केफिर-फिर करने के लिए चित्त उत्कण्ठित हो रहा है। यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है और रस के प्रधान होने से रसवदलङ्कार के रूप में उसको भी अलङ्कार नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वह रसवदलङ्कार रस के गौण होने पर ही होता है। इस उदाहरण की विश्वनाथ द्वारा की गयी आलोचना भी की है।

काव्य हेतु—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तद्भवे।।3।।

काव्य तथा उसके उपयोगी विषयों में अभिरुचि उत्पन्न करने के लिए काव्य के प्रयोजनों का प्रतिपादन करने के बाद ग्रन्थकार काव्य के प्रयोजक हेतुओं का वर्णन अगली कारिका में करते हैं - कवि में रहने वाली उसकी स्वाभाविक प्रतिभारूप 1. शक्ति, 2. लोक (व्यवहार), शास्त्र तथा काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न निपुणता और 3. काव्य की रचना-

शैली तथा आलोचना पद्धति को जानने वाले की शिक्षा के अनुसार काव्य के निर्माण का अभ्यास, ये तीनों मिलकर समष्टि रूप से उस (काव्य) के विकास के कारण बनते हैं।

काव्य भेद—

1. ध्वनि-काव्य

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्गये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

इदमिति काव्यम्। बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्गकाव्यजनकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः।

यथा - **निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोधरो**
नेत्रे दूरमनंजने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।

अर्थात् वाच्य (अर्थ) की अपेक्षा व्यङ्ग (अर्थ) के अधिक चमत्कार युक्त होने पर काव्य उत्तम कहलाता है, और विद्वानों ने उसको 'ध्वनि' काव्य के नाम से कहा है।

उदाहरण -तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चन्दन बिलकुल छूट गया है। यदि स्नान से यह चन्दन छूटता तो केवल अग्रभाग का ही नहीं, सारे स्तन का छूटता है। यह जो ऊपर उठे हुए अग्र भाग का ही चन्दन छूटा है, वह निश्चय परपुरुष के आलिङ्गन से ही छूटा है। अधर का राग बिलकुल छूट गया है, आँखों का अंजन अत्यन्त पुँछ गया है और तुम्हारा यह कृश शरीर रोमांच युक्त हो रहा है। अपनी सखी की बान्धव रूप मेरी) पीड़ा को न समझनेवाली और झूठ बोलने वाली अरी दूती तू यहाँ से बावली नहाने गयी थी और उस अधम (नायक) के पास नहीं गयी।

मध्यम काव्य -

(3) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्गं व्यङ्गे तु मध्यमम्।
अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि।

यथा -

ग्रामतरुणं तरुण्या नववंजुलमंजरीसनाथकरम्
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया।

वाच्य से अधिक चमत्कारी व्यङ्ग न होने पर गुणीभूतव्यङ्ग होता है जो मध्यम काव्य कहा जाता है।

जैसे - वेतस-वृक्ष की ताजी तोड़ी हुई मंजरी को हाथ में लिये ग्राम के नवयुवक को देख-देखकर तरुणी के मुख की कान्ति मलिन होती जा रही है।

चित्र-काव्य या अधम काव्य—

काव्य के तीसरे भेद 'चित्र-काव्य' का लक्षण तथा उदाहरण इस प्रकार है -

शब्दचित्रं वाच्यचित्रं अव्यङ्गम् त्ववरं स्मृतम् ।।

व्यङ्ग से रहित 'शब्द-चित्र' तथ 'अर्थ-चित्र' (दो प्रकार का) अधम (काव्य) कहा गया है।। 4।।

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्। अव्यङ्गमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। अवरम् अधमम्। यथा -

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानह्निकाह्नाय वः।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरी दीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्।

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियामरावती।

शब्द-चित्र, अर्थ-चित्र-दोनों के उदाहरण देते हैं जैसे - **'मन्दाकिनी वः मन्दताम् अह्नाय भिद्यात्'** यह इस श्लोक का मुख्य वाक्य है, शेष सब मन्दाकिनी के विशेषण हैं। इसलिए श्लोक का भावार्थ यह हुआ कि) गङ्गा तुम्हारी मन्दता अर्थात् अज्ञान या पाप को अह्नाय अर्थात् झटिति तुरन्त ही दूर करे। किस प्रकार की मन्दाकिनी कि स्वच्छन्द रूप से उछलती हुई, अच्छ अर्थात् निर्मल और (कच्छ-कुहर) किनारे के गड्ढ़ों में (छात दुर्बल, छातेतर) अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा (अम्बुच्छटा) उससे निके मोह अज्ञान का (मूर्च्छा) नाश हो गया है ऐसे महर्षियों के द्वारा जिसमें आनन्दपूर्वक स्नान तथा आह्निक (सन्ध्या-वन्दन आदि) कार्य किये जा रहे हैं इस प्रकार की मन्दाकिनी तुम्हारी मन्दता, अज्ञान अथवा पापादि को दूर करे। इस विशेषण से मन्दाकिनी के महर्षिजन से व्यत्व का प्रतिपादन कर अन्य तीर्थों की अपेक्षा उसका महत्त्व प्रदर्शित किया है। कोई व्यङ्यान र्थ नहीं है केवल शब्दों का अनुप्रासजन्य चमत्कार है। अतः चित्र काव्य है। यह 'शब्दचित्र' का उदाहरण है। अर्थचित्र का उदाहरण आगे इस प्रकार है -

शत्रूणां मानम् अभिमानम् द्यति खण्डयति, मित्रेभ्यो मानमादरं ददाति वा इति मानदः
शत्रुओं के अभिमान को चूर करने वाले जिस (हयग्रीव) को यों ही घूमने के लिए (युद्ध या अमरावती पर विजय करने के लिए नहीं) अपने महल से निकला हुआ सुनकर भी घबड़ाये हुए इन्द्र के द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गयी है इस प्रकार की (इन्द्र की राजधानी) अमरावती (नगरी रूप नायिका) ने भय से (द्वार रूप अपनी) आँखें बन्द-सी कर लीं। 'भिया निमीलिताक्षीव अमरावती जाता' अर्थात् अमरावती ने मानो डर के नाते आँखें बन्द कर ली हों , इस पद में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। उत्प्रेक्षा में ही कवि का प्रधान रूप से तात्पर्य है।यद्यपि वीर रस की प्रतीति हो सकती है परन्तु उसमें कवि का तात्पर्य न होने से इसको चित्र-काव्य में स्थान दिया गया है। परन्तु अर्थचित्र का यह उदाहरण कुछ ठीक नहीं लगता है। यहाँ वीर रस की प्रतीति होती है, जिसमें हयग्रीव स्वयं 'आलम्बन-विभाव', प्रतिपक्षी इन्द्रगत भय 'उद्दीपन-विभाव', मान का खण्डन 'अनुभाव' और यदृच्छा-संचरण से गम्य धृति 'व्यभिचारिभाव' हैं। इसलिए यह व्यङ्गी रहित अधम 'चित्र-काव्य' का उदाहरण नहीं हो सकता है। यदि उत्प्रेक्षा से वीर रस अभिभूत हो जाता है यह कहा जाय, तो इसको गुणीभूत-व्यङ्गके उदाहरण में अन्तर्भूत किया जा सकता है।

2.4 द्वितीय उल्लास का वर्ण्य विषय

शब्दार्थ स्वरूप—

स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोत्र व्यंजकस्त्रिधा।
अत्रेति काव्ये। एषां स्वरूपं वक्ष्यते।

शब्द के तीन भेद—

काव्य का लक्षण करने के बाद ग्रन्थकार नें लक्षण में आये हुए 'शब्दार्थौ' का विवेचन करने के लिए क्रम से अवसर प्राप्त शब्द तथा अर्थ के स्वरूप को बताया है - (काव्य में) वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक (भेद से) तीन प्रकार का शब्द होता है।

यहाँ इससे 'काव्य में' यह अर्थ लेना चाहिये। इन वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक तीनों प्रकार के शब्दों के स्वरूप का वर्णन आगे दिया जायेगा।

वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्या :।

अर्थ के तीन भेद—

जिस प्रकार उपाधि भेद से शब्द तीन प्रकार के होते हैं उसी प्रकार अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं। उनको कहते हैं - वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य आदि उन वाचक, लक्षक तथा व्यंजक शब्दों के अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं।

वाच्यादि का अर्थ है वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग।

अर्थ का चौथा भेद-

'तात्पर्यार्थ' (सू0 7) तात्पर्यार्थोपि केषुचित्।।6।।

उपाधि के भेद से कभी वाचक और कभी पाठक कहा जा सकता है, उसी प्रकार उपाधियों के भेद से एक ही शब्द कभी वाचक, कभी लक्षक और कभी व्यंजक कहा जा सकता है।

कुमारिलभट्ट के अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि ('अभिहितान्वयवादी' मीमांसकों) के मत में (तीन प्रकार के वाच्यादि अर्थों के अतिरिक्त चौथे प्रकार का) तात्पर्यार्थ भी होता है।। 6।।

अभिहितान्वयवाद—

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति 'अभिहितान्वयवादिनां' मतम्।

आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के बल से (समन्वय) परस्पर सम्बन्ध होने में पदों से प्रतीत होने वाला अर्थ न होने पर भी (तात्पर्यविषयीभूत अर्थ हेने के कारण) विशेष प्रकार का तात्पर्यरूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है यह अभिहितान्वयवादियों' अर्थात् कुमारिलभट्ट के अनुयायियों का मत है।

अभिहितान्वयवाद का अभिप्राय यह है कि पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है। उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था, वाक्यार्थ-मर्यादा से उपस्थित होता है। कुमारिलभट्ट आदि का यह सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है। इस मत में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों से नहीं, अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है, इसलिए उसको 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं, वहीं वाक्यार्थ कहलाता है और उसकी बोधक शक्ति को 'तात्पर्याख्या शक्ति' भी कहा जाता है, जो पहिले बतलायी हुई तीनों शक्तियों से भिन्न चौथी शक्ति मानी जा सकती है।

'अभिहितान्वयवाद' में पहिले पदों से केवल अनन्वित-पदार्थ उपस्थित होते हैं उसके बाद पदों की आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से 'तात्पर्य शक्ति' द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थों के बोध होता है। यह 'अभिहितान्वयवादी' कुमारिलभट्ट के मत का सारांश ग्रन्थकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है।

'वाच्य एव वाक्यार्थ इति 'अन्विताभिधानवादिनः'।

अन्विताभिधानवाद—

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक प्रभाकर और उनके अनुयायी शालिकनाथ मिश्र आदि हैं। इनका कहना यह है कि पहिले 'केवल' पदार्थ अभिहित होते हों और बाद को उनका 'अन्वय' होता हो यह बात नहीं है, बल्कि पहिले से 'अन्वित' पदार्थों का ही अभिधा से बोधन होता है। इसलिए इस सिद्धान्त का नाम 'अन्विताभिधानवाद' रखा गया है। इस मत में पदार्थों का

'अन्वय' पूर्व से ही सिद्ध होने के कारण, उसके कराने के लिए, 'तात्पर्याख्या शक्ति' की आवश्यकता नहीं होती है। प्रभाकर अपने इस मत के समर्थन के लिए यह युक्ति देते हैं कि पदों से जो पदार्थों की प्रतीति होती है वह 'सङ्केतग्रह' के बाद ही होती है और उस सङ्केत का ग्रहण व्यवहार से होता है। जैसे, छोटा बालक है, उसको यह ज्ञान नहीं होता है कि किस शब्द का क्या अर्थ है, कौन-सा शब्द किस अर्थ के बोधन के लिए प्रयुक्त किया जाता है। वह अपने पिता आदि के पास बैठा है। पिता उसके बड़े भाई या नौकर आदि किसी को आज्ञा देता है कि 'जरा कलम उठा दो।' बालक न कलम को जानता है और न 'उठा दो' का अर्थ समझता है। परन्तु वह पिता के इस वाक्य को सुनता है और भाई के व्यापार को देखता है। इससे उसके मन पर उस समष्टि वाक्य के समष्टि भूत अर्थ का एक संस्कार बनता है। उसके बाद पिता फिर कहता है 'कलम रख दो और दावात उठा दो।' बालक फिर इस वाक्य को सुनता और भाई को तदनुसार क्रिया करते देखता है। इस प्रकार अनेक बार के व्यवहार को देखकर बालक धीरे-धीरे कलम, दावात, उठाना, रखना आदि शब्दों के अलग-अलग अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहार से सङ्केत-ग्रह होता है। यह सङ्केत-ग्रह केवल पदार्थ में नहीं, अपितु किसी के साथ अन्वित-पदार्थ में ही होता है। इसलिए जब 'केवल' 'अन्वित' पदार्थ सङ्केत-ग्रह नहीं होता है तो 'केवल' या 'अनन्वित' पदार्थ की उपस्थिति भी नहीं होती है। अतएव 'अन्वित' का ही 'अभिधान' अर्थात् 'अभिधा' से बोधन होने से 'अन्विताभिधान' ही मानना उचित है, 'अभिहितान्वय' का मानना उचित नहीं है यह प्रभाकर के सिद्धान्त का सार

तीनों अर्थों का व्यंजकत्व—

इस प्रकार ग्रन्थकार ने वाचक, लक्षक तथा व्यंजक तीन प्रकार के शब्दों और उनके अनुसार वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्गî तीन प्रकार के अर्थों का विवेचन किया और उसके साथ 'अभिहितान्वयवादियों' के मत में 'तात्पर्यार्थ' भी होता है यह बात यहाँ तक दिखलायी है। इसके बाद वे यह कह रहे हैं कि इन तीनों प्रकार के अर्थों में व्यंजकत्व भी रहता है अर्थात् वाच्यार्थ भी व्यंजक हो सकता है

(सू0 8) सर्वेषां प्रायशोर्थानां व्यंजकत्वमपीष्यते।

(सूत्र 8)-प्रायः (इन) सभी अर्थों का व्यंजकत्व भी (साहित्यशास्त्र में) माना जाता है।

शब्दशक्तियों की व्याख्या

अभिधा का लक्षण— वाच्यार्थ को ही मुख्यार्थ कहा जाता है -

(सू0 11) स मुख्योर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोस्याभिधोच्यते।। 8।। स इति साक्षात् संकेतितः। अस्येति शब्दस्य।

(सू0 11) वह (साक्षात् संकेतिक अर्थ) मुख्य अर्थ (कहलाता) है, और उस (का बोधन कराने) में इस (शब्द) का जो व्यापार होता है वह अभिधा (व्यापार या अभिधा-शक्ति) कहलाता है।। 8।। (कारिका में प्रयुक्त) 'सः' इस (पद) से साक्षात्-संकेतित (अर्थ लिया जाता है)। 'अस्य' इस (पद) से 'शब्द का' (यह अर्थ लिया जाता है) ।।8।।

लक्षणा—

मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ की बोधिका अभिधा-शक्ति होती है और अन्य सबकी अपेक्षा सबसे पहले अभिधा-शक्ति ही अपने अर्थ अर्थात् वाच्यार्थ का बोध कराती है परन्तु जहाँ कहीं मुख्यार्थ का वाक्य के अन्य पदों के अर्थों के साथ अन्वय होने में बाधा होती है अथवा उससे तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती वहाँ रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी विशेष

प्रयोजन के प्रतिपादन के लिए मुख्यार्थ से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हो सकती है। उस अन्य अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' और उसकी बोधिका शक्ति को 'लक्षणा-शक्ति' कहा जाता है। लक्षणा-शहक्ति के व्यापार के लिए 1. मुख्यार्थ-बाध, 2. लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध तथा 3. रूढ़ि या प्रयाजन में से अन्यतर, इन तीन कारणों की आवश्यकता होती है। लक्षण करने के लिए ग्रन्थकार लिखते हैं -

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।

1. मुख्यार्थ का बाध (अर्थात् अन्वय की अनुपपत्ति या तात्पर्य की अनुपपत्ति) होने पर, 2. उस (मुख्यार्थ) के साथ (लक्ष्यार्थ या अन्य अर्थ का) सम्बन्ध होने पर, 3. रूढ़ि अथवा प्रयोजन-विशेष से जिस (शब्द-शक्ति) के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है वह (मुख्य रूप से अर्थ में रहने के कारण शब्द का) आरोपित व्यापार लक्षणा (कहलाता) है ।।9।।

इस कारिका में 'लक्ष्यते यत् सा' इस स्थल पर जो 'यत्' शब्द का प्रयोग हुआ है उसकी दो प्रकार की व्याख्या की जाती है। प्रथम व्याख्या के अनुसार 'यदिति यया इत्यर्थे लुप्तकरणं तृतीयान्तमव्ययम्' 'यत्' पद 'यया' इस अर्थ में करण-विभक्ति के लोप द्वारा बना हुआ तृतीयान्त अव्ययपद है। उसके अनुसार 'यया शब्दशक्त्या अन्योर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा' जिस शब्द शक्ति से अन्य अर्थ लक्षित होता है वह 'लक्षणा' कहलाती है, यह अर्थ होता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार 'यत्' यह क्रिया विशेषण है 'यत् लक्ष्यते' अर्थात् 'यत् प्रतिपाद्यते' जो प्रतिपादित होता है वह 'लक्षणा' है। इन दोनों ही व्याख्याओं में और विशेषकर दूसरी व्याख्या में 'लक्ष्यते' यह पद णिजन्त से बना हुआ आख्यात का रूप है। णिच्-प्रत्यय का अर्थ प्रयोजक हेतु का व्यापार होता है, 'अन्योर्थो यत् लक्ष्यते' का अर्थ 'अन्यार्थ-प्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा' यह होता है। उदाहरण—

'कर्मणि कुशलः' 'काम में कुशल है' इत्यादि में 'कुशान् लाति आदत्ते इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुशों के लाने का कोई सम्बन्ध न होने से (मुख्यार्थ का बाध होता है) और 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में गङ्गा (पद के जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ) आदि में घोष (आभीर-पल्ली) आदि का आधारत्व सम्भव न होने से मुख्यार्थ का बाध होने पर (प्रथम उदाहरण में) विवेचकत्वादि और (दूसरे उदाहरण में) सामीप्य-सम्बन्ध होने पर, (पहिले उदाहरण में कुशल पद के दक्षरूप अर्थ में रूढ़ होने के कारण) रूढ़ि से अर्थात् प्रसिद्धि से, और (दूसरे उदाहरण में) 'गङ्गातटे घोषः' इत्यादि (मुख्य शब्द) के प्रयोग से जिन (शैत्य, पावनत्वादि धर्मों) की उस रूप में प्रतीति नहीं है उन शैत्य, पावनत्व आदि धर्मों के उस प्रकार के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन से मुख्य अर्थ से जो अमुख्य अर्थ लक्षित होता है यह शब्द का व्यवहितार्थ विषयक आरोपित शब्द-व्यापार 'लक्षणा' (कहलाता) है।

इस कारिका में 'लक्षणा' का मुख्य कारण 'मुख्यार्थबाध' बतलाया गया है। इस 'मुख्यार्थबाध की भी दो प्रकार की व्याख्या की जाती है। अधिकांश व्याख्याकार मुख्यार्थबाध का अर्थ 'अन्वयानुपपत्ति' करते हैं। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गा का अर्थ जल की धारा और 'घोष का अर्थ आभीरपल्लीघोषियों की बस्ती-है। गङ्गा की धारा के ऊपर घोषियों की बस्ती नहीं रह सकती है इसलिए यहाँ अन्वय के अनुपपन्न होने के कारण गङ्गा पद लक्षणा से तटरूप अर्थ का बोधक होता है।

लक्षणा के दो भेद

ग्रन्थकार लक्षणा के 'उपादान-लक्षणा' तथा 'लक्षण-लक्षणा' नाम से दो भेद करते हैं। जहाँ शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है और स्वयं भी बना रहता है उसको 'उपादान-लक्षणा' कहते हैं। उसमें मुख्यार्थ का भी उपादान या ग्रहण रहता है इसलिए उसकी 'उपादान-लक्षणा' संज्ञा है।

जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति' या 'यष्टयः प्रविशन्ति' आदि उदाहरणों में 'कुन्ता' और 'यष्टि' शब्द भाला और लाठी रूप अचेतन अर्थों के वाचक हैं, उनमें प्रवेश-क्रिया का अन्वय नहीं हो सकता है इसलिए यहाँ मुख्यार्थ का बाध होने पर 'कुन्त' आदि शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए 'पुरुष' पद या पदार्थ का आक्षेप कर लेते हैं। इस प्रकार 'कुन्त' शब्द 'कुन्तधारी पुरुष' का बोधक हो जाता है और उसका अन्वय होने में जो बाधा थी वह दूर हो जाती है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' का अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष घुसे आ रहे हैं' यह हो जाता है। कुन्तधारी पुरुषों का बाहुल्य-सूचन ही लक्षणा का प्रयोजन है। इस प्रकार यह प्रयोजनवती उपादान लक्षणा का उदाहरण है। इसके विपरीत जहाँ वाक्य में कोई शब्द वाक्य में प्रयुक्त दूसरे शब्द के अन्वयक की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर अन्य अर्थ का बोधक हो जाता है वहाँ 'लक्षण-लक्षणा' होती है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में वाक्य में प्रयुक्त 'घोष' पद के आधेयत्व रूप से अन्वय का उपपादन करने के लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जल-प्रवाह' रूप मुख्यार्थ का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध से 'तट' रूप अन्य अर्थ को बोधित करता है अतएव यह प्रयोजनवती 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण है।

षड्विधा लक्षणा—

मम्मट ने लक्षणा के छह भेदों का निरूपण किया। लक्षणा का यह छह प्रकार का विभाग मूलतः मुकुलभट्ट ने किया है। मम्मट ने भी उसी का अनुवाद कर के यहाँ 'लक्षणा तेन षड्विधा' ऐसा प्रतिपादन कर दिया है।

साहित्यदर्पणकार ने 'तेन षोडशभेदिता' लिखकर यहाँ तक ही लक्षणा के छह भेदों के स्थान पर सोलह भेद कर के दिखला दिये हैं। वे सोलह भेद इस प्रकार होते हैं - पहिले रूढ़ि-लक्षणा तथा प्रयोजनवती-लक्षणा ये दो भेद हुए। फिर उन दोनों के उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा के भेद से, दो-दो भेद होकर चार भेद हुए। फिर उन चारों भेदों के सारोपा तथा साध्यवसाना रूप से दो-दो भेद होकर कुल आठ भेद हुए। फिर उन आठों भेदों के शुद्धा तथा गौणी भेद से दो-दो भेद होकर कुल सोलह भेद हुए। इस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने यहाँ तक लक्षणा के सोलह भेद कर दिये हैं। मम्मट और मुकुलभट्ट ने यहाँ तक केवल छह भेद ही किये हैं। इस अन्तर का कारण यह है कि मम्मट और मुकुलभट्ट दोनों ने 'उपादान-लक्षणा' और 'लक्षण-लक्षणा' ये दोनों भेद केवल 'शुद्धा' के माने हैं, 'गौणी' के नहीं। विश्वनाथ ने 'गौणी' के भी ये दोनों भेद माने हैं। उनको मम्मट के 6 भेदों में मिला देने से 8 भेद बन जाते हैं। विश्वनाथ ने इनके रूढ़ि तथा प्रयोजन से दो भेद कर के 16 भेद बनाये हैं। मम्मट और मुकुलभट्ट ने ये भेद नहीं किये हैं। इसलिए उनके यहाँ भेदों की संख्या केवल 6 रह गयी है।

व्यंजना—

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येत्र व्यंजनान्नापरा क्रिया।।14।।

प्रतीति कराने के लिए लाक्षणिक शब्द का आश्रय लिया जाता है ,केवल शब्द से गम्य उस फल (प्रयोजन) के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त (शब्द का) और कोई व्यापार नहीं हो सकता है।।14।।

अभिधामूलं त्वाह --

(सू0 32) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरंजनम्।।19।।
''संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचितीदेशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।''

इत्युक्तदिशा

अभिधामूला (व्यंजना)—

संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के वाचकत्व के (किसी एक अर्थ में) नियन्त्रित हो जाने पर (उससे भिन्न) अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार व्यंजना (अर्थात् अभिधामूला-व्यंजना कहलाता है)।

एकार्थ नियामकता का हेतु अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में संयोगादि के द्वारा नियन्त्रण हो जाने पर भी उससे जो अन्य अर्थ की प्रतीति होती रहती है उस प्रतीति का कराने वाला शब्द-व्यापार 'अभिधामूला-व्यंजना' नाम से कहा जाता है। यह अभिधामूला-व्यञ्जना का लक्षण हुआ। अब यहाँ यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि अनेकार्थक शब्द का एकार्थ में नियन्त्रण करने वाले संयोगादि का क्या अभिप्राय है। इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए ग्रन्थकार ने अपने व्याकरणानुगत सिद्धान्त के अनुसार भर्तृहरि-प्रणीत व्याकरणशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' से दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं। जिनका अर्थ निम्नलिखित प्रकार है -

1 संयोग,
2 विप्रयोग,
3 साहचर्य,
4 विरोधिता,
5 अर्थ,
6 प्रकरण,
7 लिङ्ग,
8 अन्य शब्द की सन्निधि,
9 सामर्थ्य,
10 औचित्य,
11 देश,
12 काल,
13 (पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग आदि रूप) व्यक्ति और 14 स्वर आदि (अनेकार्थक) शब्द के अर्थ का निर्णय न होने पर विशेष अर्थ में निर्णय कराने के कारण होते हैं।

(भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित) इस मार्ग से (निम्नलिखित उदाहरणों में अनेकार्थ शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण किया जा सकता है)।

भर्तृहरि की इन कारिकाओं के आधार पर अनेकार्थक शब्दों का एकार्थ से नियन्त्रण करने के जो 14 कारण दिखलाये हैं इन सबके उदाहरण दिखलाते हुए आगे उनकी व्याख्या करेंगे। सबसे पहिले 'संयोग' और 'वियोग' के उदाहरण देते हैं -

'सशंखचक्रो हरिः, 'अशंखचक्रो हरिः' इति अच्युते।'राम-लक्ष्मणौ' इति दाशरथौ ।रामार्जुन गतिस्तयोः' इति भार्गव-कार्तवीर्ययोः।'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इति हरे। 'सर्वं जानाति देवः' इति युष्मदर्थे।

संयोग और विप्रयोग की नियामकता

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु।।

अर्थात् पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त हरि शब्द यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, विष्णु, सिंह, रश्मि, घोड़ा, तोता, सर्प, बन्दर और मेढ़क का वाचक होता है और कपिल अर्थात् पीले अर्थ के 'हरि' शब्द का तीनों लिङ्गों में प्रयोग हो सकता है।इस कोश के अनुसार हरि शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं परन्तु उसके साथ जब शंख-चक्र के संयोग या विप्रयोग का वर्णन हो तो उन दोनों ही दशाओं में 'हरि' शब्द विष्णु का वाचक होगा। क्योंकि शंख-चक्र का योग तथा वियोग उन्हें के साथ हो सकता है इसलिए-

'शंख-चक्र सहित हरि' (यहाँ संयोग से) और 'शंख-चक्र से रहित हरि' (यहाँ विप्रयोग से) यह (हरि शब्द) अच्युत में नियन्त्रित होता है)।

साहचर्य-विरोध की नियामकता

रामः पशुविशेष स्याज्जामदग्न्ये हलायुधे।
राघवे चासिते श्वेते मनोज्ञेपि च वाच्यवत्।।

इस प्रकार राम शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी जब लक्ष्मण के नाम के साथ 'रामलक्ष्मणौ' इस रूप में राम पद का प्रयोग किया जाता है तब साहचर्य के कारण उससे दशरथ-पुत्र राम का ही ग्रहण होता है और जब 'रामार्जुनौ' इस प्रकार का प्रयोग होता है तब परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्जुन का विरोध होने से विरोधिता के द्वारा उसका परशुराम अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है।

'राम-लक्ष्मण' इस (प्रयोग) में (साहचर्य के कारण राम और लक्ष्मण दोनों शब्दों का) दशरथ के पुत्र में (नियन्त्रण होता है) और 'रामार्जुनगतिस्तयोः' (प्रयोग) में ('राम' और 'अर्जुन' इन दोनों शब्दों का विरोधिता के कारण क्रमशः) परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्जुन अर्थ में (नियन्त्रण होता है)।

अर्थ और प्रकरण की नियामकता

इसी प्रकार 'स्थाणु' शब्द के कोश में निम्नलिखित प्रकार अनेक अर्थ दिखलाये हैं -

स्थाणुर्वा ना ध्रुवः शंकुः। स्थाणू रुद्र उमापतिः।

अर्थात् 'स्थाणु' शब्द के वृक्ष का ठूठ या स्थिर खड़ा हुआ खूँटा तथा शिव आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु जब उसका प्रयोग संसार से पार उतारने की प्रार्थना में किया जाय तो वह 'अर्थ' या कार्य केवल शिव से ही सिद्ध हो सकता है इसलिए उस दशा में 'अर्थ' अर्थात् प्रयोजन के कारण 'स्थाणु' पद शिव का वाचक होगा।

'संसार के पार उतरने के लिए स्थाणु का भजन कर'। यहाँ (स्थाणु शब्द प्रयोजन रूप अर्थ के कारण) शिव में (नियन्त्रित हो जाता है)।

(इस प्रकार) 'देव सब जानते हैं' यहाँ (प्रकरण से अनेकार्थक 'देव' शब्द) 'आप' ('र्थ') में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'कुपितो मकरध्वजः' इति कामे। 'देवस्य पुरारातेः' इति शम्भौ। 'मधुना मत्तः कोकिलः' इति वसन्ते। 'पातु वो दयितामुखम्' इति साम्मुख्ये। 'भात्यत्र परमेश्वरः' इति राजधानीरूपाद् देशाद्राजनि। 'चित्रभानर्विभाति' इति दिने रवौ रात्रौ वह्नौ। मित्रं भाति' इति सुहृदि। 'मित्रो भाति' इति

इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

(इस प्रकार मकरध्वज पद समुद्र, औषधि विशेष और कामदेव आदि अनेक अर्थों का वाचक है। परन्तु) 'मकरध्वज कुपित हो रहा है' यहाँ (लिङ्ग अर्थात् कोपरूप चिह्न से मकरध्वज पद) कामदेव में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'पुराति देव का' यहाँ (अनेकार्थक 'देव शब्द' पुरारति रूप अन्य शब्द के सन्निधान के कारण) 'शम्भू' अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'कोकिल मधु से मत्त हो रहा है' यह (कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में होने से 'मधु शब्द-सामर्थ्य-वश) 'वसन्त' अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है)।

मुख तुम्हारी रक्षा करे' इसमें (अनेकार्थक 'मुख' शब्द औचित्य के कारण 'साम्मुख्य' अर्थात्) 'आनुकूल्य' अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'यहाँ परमेश्वर शोभित होते हैं' इसमें राजधानी रूप देश के कारण (अनेकार्थक 'परमेश्वर' शब्द) 'राजा' अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'चित्रभानु चमक रहा है' यहाँ (अनेकार्थ चित्रभानु शब्द) 'सूर्य' अर्थ में, और रात्रि में 'अग्नि' अर्थ में (काल के कारण नियन्त्रित हो जाता है)।

'मित्रं भाति' 'मित्र शोभित होता है' यह (नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त हुआ अनेकार्थक 'मित्र' शब्द 'व्यक्ति' अर्थात् लिङ्ग के कारण) 'सुहृत्' अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है)।

'मित्रो भाति' (पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त अनेकार्थक 'मित्र' शब्द लिङ्ग के सामर्थ्य से) सूर्य अर्थ में (नियन्त्रित हो जाता है। सुहृत्का वा... मित्र शब्द नपुंसकलिङ्ग में और सूर्य का वाचक मित्र शब्द पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त होता है)।

ऊपर भर्तृहरि की जो कारिकाएँ उद्धृत की थीं उनमें अनेकार्थ शब्द का एकार्थ में नियन्त्रण करने वाले संयोगादि 14 हेतु बतलाये थे। उनमें 13 के उदाहरण दिखला दिये गये हैं। चौदहवां हेतु 'स्वर' कहा गया है। यह उदात्त आदि स्वरों का भेद वेद में ही अर्थ भेद का नियामक होता है, काव्य में नहीं। इसलिए यहाँ उसका उदाहरण नहीं दिया गया है। इस बात को कहते हैं -

'इन्द्रशत्रु' आदि में वेद में ही स्वर अर्थविशेष का बोधक होता है, काव्य में नहीं (इसलिए उसके लौकिक उदाहरण नहीं दिये हैं)।

स्वर भेद का प्रभाव

'इन्द्रशत्रु' यह स्वर का वैदिक-प्रयोग ग्रन्थकार ने अर्थभेद दर्शाने के लिए प्रस्तुत किया है, वह भी उन्होंने अपनी परम्परा के अनुसार व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थज्ञ महाभाष्य से उद्धृत किया है। महाभाष्य में व्याकरण के अध्ययन के मुख्य 14 प्रयोजन बतलाये हैं। उनमें दुष्ट शब्दों के प्रयोग से बचना भी व्याकरण का एक प्रयोजन बतलाया गया है। इसके विषय मं1 महाभाष्यकार ने लिखा है -

''दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्।।''

आदिग्रहणात् -

(एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः।। इति संस्कृतम्)
इत्यादावभिनयादयः।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनम्, तत्र नाभिधा नियमनात् तस्याः। न च लक्षणा मुख्यार्थ-वाधाद्यभावात्। अपितु अञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः। यथा -

इस श्लोक में 'इन्द्रशत्रुः' सम्बन्धी जिस घटना का संकेत किया गया है उस कथा का उल्लेख तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड के पंचम प्रपाठ में पाया जाता है, जिसका सारांश यह है कि - त्वष्टका का पुत्र विश्वरूप, जो असुरों का भानजा भी होता था, देवताओं का पुरोहित था। वह प्रत्यक्ष रूप से देवताओं का कार्य करता था परन्तु परोक्ष रूप से असुरों का भी कार्य करता रहता था। इसलिए इन्द्र ने क्रुद्ध होकर वज्र से उसका सिर काट दिया। उसके मारे जाने पर त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाले दूसरे पुत्र को उत्पन्न करने के लिए यज्ञ का आरम्भ किया। उस यज्ञ में उसने 'इन्द्रशत्रुर्वधस्य' आदि मन्त्र का 'ऊह' करके पाठ किया। उसका अभिप्राय यह था कि 'इन्द्र के मारने वाले पुत्र की वृद्धि हो'। 'शत्रु' शब्द यहाँ 'शातयिता' मारने वाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'इन्द्रशत्रु' पद में दो प्रकार के समास हो सकते हैं। एक 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता इन्द्रशत्रु' अर्थात् इन्द्र का मारने वाला इस अर्थ में षष्ठी तत्पुरुष समास हो सकता है और दूसरा 'इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य स इन्द्रशत्रुः' 'इन्द्र जिसको मारने वाला है' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास हो सकता है। इन दोनों समासों से शब्द का अर्थ बिलकुल उलटा हो जाता है। एक जगह षष्ठी तत्पुरुष समास में 'इन्द्रः को मारने वाले पुत्र की वृद्धि हो' यह अर्थ होता है और दूसरी ओर बहुव्रीहि समास में 'इन्द्र जिसको मारे' अर्थात् जिसकी मृत्यु इन्द्र के हाथ से हो उस पुत्र की उत्पत्ति हो, यह अर्थ हो जाता है। इनमें से षष्ठी तत्पुरुष समास वाला अर्थ यजमान को अभीष्ट था। उस षष्ठी तत्पुरुष समास में 'अन्तोदात्त' स्वर का प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु मन्त्र पढ़ते समय उसने 'इन्द्रशत्रु' शब्द का 'आद्युदात्त' उच्चारण किया, जिससे प्रार्थना का अर्थ ही उल्टा हो गया। इस प्रकार अन्तोदात्त और आद्युदात्त स्वर के भेद से अनेकार्थक वेद में ही 'इन्द्रशत्रु' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में नियतन्त्र होता है। अतः यहाँ स्वर के उदाहरण नहीं दिये हैं।

संकेत की नियामकता

कारिका में आदि (पद के) ग्रहण किये जाने से - इतने बड़े स्तनों वाली, इतनी बड़ी आँखों से (उपलक्षित वह तरुणी) इतने दिनों में ऐसी हो गयी।।11।।

इत्यादि में अभिनय आदि (कृत संकेत एकार्थ में नियन्त्रण करने वाले होते हैं)।

इस प्रकार संयोग आदि के द्वारा अन्य अर्थ के बोधकत्व का निवारण हो जाने पर भी अनेकार्थ जो कहीं दूसरे अर्थ काप्रतिपादन करता है वहाँ अभिधा नहीं हो सकती है, क्योंकि उसका नियन्त्रण हो चुका है ओर मुख्यार्थबाध आदि के न होने से लक्षणा भी नहीं हो सकती है। अपितु अ´जन अर्थात् व्यंजना व्यापार ही होता है। जैसे -

भद्रात्मनो दुरधिारोहतनोर्विशालवंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसंग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोभूत्।।12।।

इस प्रकार राजा-परक अर्थ हो जाने पर हाथी-परक दूसरा अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है-

भद्र जातिवाले, जिसके ऊपर चढ़ने में कठिनाई होती है (अर्थात् बहुत ऊँचे), जिसकी पीठ की हड्डी (वंश) बहुत विशाल और उन्न है, जिसकी गति (अनुपप्लुत अर्थात्) धीर है और जिसने (अपने मद-जल के कारण बहुत-से) भ्रमरों का संग्रह कर रखा है इस प्रकार के (परवारण अर्थात्) उत्तम हाथी की (कर अर्थात्) सूंड़ (के समान राजा का हाथ) मद-जल के बहने से सदा सुन्दर मालूम होती है॥12॥

2.5 सारांश

काव्यप्रकाश ग्रंथ में काव्यशास्त्र के तत्वों का विवेचन किया गया है। आचार्य ने इस ग्रन्थ को 10 उल्लासों में बांटा है। दसों विभागों में इस ग्रंथ के अंतर्गत काव्य के लक्षण, काव्य के प्रयोजन ,काव्यग के कारण, शब्द तथा अर्थ का स्वरूप, शब्द और अर्थ के प्रकार, काव्य के प्रकार आदिका लक्षण और उदाहरण सहित विस्तार से विवेचन किया गया है। काव्य की परिभाषा और प्रयोजन का वर्णन करते समय आचार्य मम्मट ने अपनी विलक्षण प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए पूरी परंपरा का समन्वय स्थापित करके काव्य के लक्षण और प्रयोजन को पाठकों के समक्ष रखा है। काव्य के तीन भेद आचार्य ने स्वीकार किए हैं उत्तम मध्यम तथा अधम।

शब्द के भी तीन प्रकार माने गए वाचक रक्षक तथा व्यंजक। काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में मंगलाचरण के पश्चात आचार्य ने काव्य प्रयोजन, काव्य के लक्षण और काव्य के प्रकारों का ही वर्णन किया है । द्वितीय उल्लास में शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन करते समय आचार्य ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है, जिसमें अभिहितान्वययवाद तथा अन्विताभिधानवाद की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन करते समय उदाहरण के साथ काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने सभी तथ्यों का विशद विवेचन किया है।द्वितीय उल्लास में ही इन्होंने शब्द की शक्तियों की विस्तृत व्याख्या की है। जिसमें 6 प्रकार के लक्षणा मानी गयीहैं । आचार्य मम्मट में काफी के प्रयोजनों को बताते समय काव्यय से होने वाली प्राप्ति के विषय में कहा है कि काव्या की रचना से यश की प्राप्ति होती है ,काव्य की रचना से अर्थ की प्राप्ति होती है, काव्य रचना और काव्यव के पढ़ने से व्यवहार का ज्ञान होता है । इतना ही नहीं पुरुषार्थ की प्राप्ति के साथ-साथ अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है। शिव की भांति काव्य की रचना और काव्य का अध्ययन कल्याणकारी होता है। मम्मट अलंकार वादी आचार्य भी है किंतु संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य मम्मट को सबसे पहले ध्वयनि का का प्रतिष्ठापक्क माना जाता है। अलंकार का वर्णन काव्यप्रकाश के नौवें तथा दशवें उल्लास में किया गया है। आचार्य ने काव्यशास्त्र के तत्वों पर विचार करते समय अपनी विलक्षण प्रतिभा का प्रदर्शन करते हुए सभी पक्षों का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है । इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप काव्य के प्रयोजन काव्य के लक्षण काव्य के प्रकार, शब्द और अर्थ के स्वरूप के साथ-साथ शब्द की शक्तियों की विवेचना करने में भी सक्षम हो सकेंगे।

2.6 शब्दावली

शब्द	अर्थ
भद्रात्मनो	कल्याणकारी आत्मा
मुखसंग्रहस्य	मुखसंग्रह का

यस्य	जिसका
परवारणस्य	परवारण का
तद्युक्तो	उसका कथन
व्यञ्जकः	व्यंजक
शब्दः	शब्द
व्यंजनयुक्तः	व्यंजन से युक्त
तथेति	इस प्रकार यह
काव्यप्रकाशे	काव्यप्रकाश में
शब्दार्थस्वरूपे	शब्दार्थ स्वरूप में

2.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1-संस्कृत साहित्य का इतिहास. बलदेव उपाध्याय प्रकाशक शारदा निकेतन वी, कस्तूरवानगर सिगरा वाराणसी।

2-काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट, व्याख्याकार विश्वेकश्वकर ज्ञानमण्डकल चौखम्भा वाराणसी ।

2.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1.संकेतग्रह के विषय में परिचय दीजिये।

2. लक्षणा शक्ति का निरूपण कीजिए।

3. संस्कृत काव्यशास्त्र में आचार्य मम्मट के योगदान का निरूपण कीजिए

4.काव्यप्रकाश के अनुसार काव्य लक्षण और प्रयोजन की व्याख्या कीजिए

5.काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास का प्रतिपाद्य लिखिए

6. काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास का प्रतिपाद्य लिखिए

इकाई 03. वक्रोक्तिजीवितम् प्रथम उन्मेष : साहित्य स्वरूप विवेचन पर्यन्त

इकाई की रूपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 तथ्यात्मक वर्णन
3.4 वर्ण्य विषय
3.5 सारांश
3.6 शब्दावली
3.7 सन्दर्भग्रन्थ
3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्य शास्त्र में कुल छः सम्प्रदाय प्रतिष्ठित हैं। अलंकार, रस, गुण, रीति आदि सम्प्रदायों में से उतने ही विलक्षण मत के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवितम् नामक ग्रन्थ में वक्रोक्ति की स्थापना किया है। काव्य का शरीर निर्माण कैसे होगा और उसमें प्राण तत्व क्या होगा? इस बात का चिन्तन करके अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कुन्तक के पूर्व के सभी आचार्यों ने किया। किसी ने अलंकार की प्रधानता को स्वीकार किया तो किसी ने गुण की प्रधानता को। किसी आचार्य ने रस को काव्य की आत्मा माना तो किसी ने रीति को। आचार्य भरत मुनि से लेकर काव्य शास्त्र की परंपरा आधुनिक संस्कृत के युग तक विद्यमान हैं।

इस इकाई में आप वक्रोक्तिजीवनम् के प्रथम उन्मेष में वर्णित साहित्य स्वरूप विवेचन तक के तथ्यों का अध्ययन करने जा रहे है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में चार उन्मेष हैं। आपके अध्ययन के लिए प्रथम उन्मेष के कुछ अंश इस इकाई में प्रस्तुत किए गए हैं जिनमें काव्य के प्रयोजन से लेकर साहित्य के स्वरूप सम्बन्धी विवेचन तक के सिद्धान्तों को ग्रहण किया गया है।

अतः इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप कुन्तक द्वारा प्रतिपादित काव्यशास्त्रीय कुछ सिद्धान्तों की जानकारी प्राप्त करके उनकी व्याख्या करने में सक्षम हो सकेंगें।

3.2 उद्देश्य

वक्रोक्तिजीवितम् के वर्णन से सम्बन्धित इस इकाई का सम्यक अध्ययन कर लेने के बाद आप—

- ❖ वक्रोक्तिजीवितम् के प्रतिपाद्य को बता सकेंगें
- ❖ वक्रता के सिद्धान्त को समझा सकेंगें
- ❖ वक्रता के प्रकार का विश्लेषण कर पायेंगें
- ❖ काव्य के प्रयोजन को बता सकेंगें
- ❖ कुन्तक के मत में साहित्य के स्वरूप का क्या विवेचन है। व्याख्या कर सकेंगे

3.3 तथ्यात्मक वर्णन

आचार्यकुन्तक के ग्रन्थ में कुल चार उन्मेष हैं ,जिनमें चतुर्थ उन्मेषअपूर्ण ही रह जाता है। कवि ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति हेतु शक्ति केपरिस्पन्द मात्र उपकरण वाले त्रिभुवन में विचित्र कर्म करने वालेपरमतत्वशिव की वन्दना करता है। उसके बाद सुभाषित विलास रूप अभिनयोज्ज्वला वाग्देवी को प्रणाम करलोकोत्तरचमत्कारकारि वैचित्र्यसिद्धि के लिए इस काव्य विषयक ग्रन्थ कीरचना की घोषणा करता है। अलङ्कार ग्रन्थ एवम् अलङ्कार्य काव्य के लक्षणोंतथा प्रयोजनों का वर्णन कर काव्य के प्राण-भूत शब्द तथा अर्थ की तर्कयुक्तविवेचना की जाती है। तत्पश्चात् कविचातुर्य पूर्ण भङ्गिमा से किये गये कथनस्वरूप वक्रोक्ति को ही एक मात्र अलङ्कार (शब्द तथा अर्थ दोनों) का अलङ्कारस्थिर करता है। इसके बाद

शब्दार्थौंसहितावेव प्रतीतो स्फुरतः सदा।
सहितावितिं तावेव किमपूर्व विधीयते॥ १६ ॥

कारिका द्वारा 'साहित्य' शब्द की विवेचना कुन्तक करते हैं । इसप्रकार काव्य तथा साहित्य के अभिनव लक्षण नियत करने के पश्चात् आचार्यकवियों के व्यापार (काव्य) की वक्रता का व्याख्यान करते है। सर्वप्रथमवक्रता के छः भेद आचार्य ने माने हैं।

१.वर्णविन्यासवक्रता,

२. पदपूर्वार्द्धवक्रता,

३. प्रत्ययाधिवक्रता

४. वाक्यवक्रता,

५. प्रकरणवक्रता

६ प्रबन्धवक्रता

इनके अनेकानेक अवान्तरभेद हैं। उपर्युक्त छहों प्रकार की वक्रताओं का सामान्य रूप से विश्लेष इसीउन्मेष में आता है जो कि संक्षिप्त रूप में निम्न प्रकार है:

1. वर्णविन्यासवक्रता- "वर्णनां विन्यासो वर्णविन्यास:।अक्षराणांविशिष्टन्यसनं तस्य वक्रत्वं वक्रभाव: प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणावैचित्र्येणोपनिबद्ध: सन्निवेशविशेषविहितस्तद्विदाह्लादकारीशब्दशोभातिशय ।" अर्थात् वर्णों वा अक्षरों की विशेष ढंग से रचनावर्णविन्यास है तथा उसकी वक्रता प्रसिद्ध प्रस्थान से भिन्न वैचित्र्यद्वारा उपनिबद्धवक्रभाव अथवा वर्ण रचना विशेष के द्वारा उत्पन्नआनन्ददायक शब्द की शोभा अतिशय वर्णविन्यासवक्रता कहलातीहै ।

2. पदपूर्वार्द्धवक्रता- "पदस्य सुबन्तस्य तिंगन्तस्य वा पूर्वार्द्धप्रातिपदिकलक्षणं धातुलक्षणंवा तस्य वक्रता वक्रभावो विन्यास वैचित्र्यम्

अर्थात् सुबन्त तथा तिङन्त पद जोप्रातिपदिकरूपी वक्रता अथवा विशेष ढंग की रचना का वैचित्र्य है ,वह पदपूर्वार्द्ध कहलाती है उसके रूढ़ि, संज्ञा, पर्याय, उपचार, विशेषण, संवृति, वृति, लिङ्गक्रिया आदि बहुत से भेद हैं ।

3.प्रत्याश्रितवक्रता – "प्रत्यय: सुप् तिङ् च यस्याश्रयस्तस्य कारकपुरुषादिवैचित्र्यविहित यस्मिन् वचनवैचित्र्य काव्यबन्ध-शोभायै निबध्यते साप्रत्ययवक्रता" ।

अर्थात् वक्रता का प्रत्यय के आश्रित रहने वाला अवान्तरभेद प्रत्याश्रित वक्रता कहलाता है। यथा- 'मैथिली तस्य दाराः।

4. वाक्यवक्रता – समुदायभूत वाक्य की वक्रतापूर्ववर्णित पदादिवक्रता से भिन्न हजारों प्रकार की होती है तथा इसमें कविप्रसिद्ध उपमा आदि अलङ्कारों का समस्त समुदाय अन्तर्भूत हो जाता है। जैसे-

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मी वनं मया सार्द्धमति प्रपन्न
त्वामाश्रयं प्राप्य तथा नु कोपात् सोढास्मि न त्वद्धवने वसन्ती ॥

रघुवंश महाकाव्य से लिया गया है ॥

5. प्रकरणवक्रता – किसी प्रबन्ध के एकदेश रूप प्रकरण में जो वक्रभाव सहज स्वाभाविक, आहार्यअर्थात् व्युत्पत्ति द्वारा उत्पन्न किया गया तथा रमणीयता से मनोहर याहृदयहारी किया हुआ प्रकरणवक्रता कहलाता है।

6. **प्रबन्धवक्रता- प्रबन्धे वक्रभाव प्रबन्धवक्रतेति** । संज्ञा से ही स्पष्ट है ।

काव्यमार्ग

1. काव्य का सुकुमार मार्ग- दोषहीन प्रतिभा से प्रस्फुरित, नव शब्दार्थ सेरमणीय स्वाभाविक रूप से उत्पन्न, अविभासित स्थिति वाला, सृष्टि सौन्दर्यसे सादृश्य रखने वाला, सुकुमारताजन्य रमणीयता से रसमय, शोभा तिशय का पोषकजिससे कालिदास प्रभृति विद्वान् विकसित

पुष्पोद्यान से विचरण करने वालेभ्रमरों के सदृश निकले अर्थात् अपनी उत्कृष्ट काव्य रचनाएँ की, वह सुकुमारमार्ग कहलाता है।

यह सुकुमारमार्ग समासहीन हृदयहारी पदों के विन्यासरूप प्राणवाला माधुरस तथावक्रोक्तिविषयक अभिप्राय को अनायास प्रकट कर देने वाला एवं तत्क्षण अर्थ कीप्रतीति कराने वाला प्रसाद गुणों तथा वर्णों की विचित्र संघटना या रचना कोशोभा से लक्षित पदयोजना की स्वल्प सम्पत्ति (शोभा) से उत्पन्न लावण्यएवं श्रुति पेशलताशाली, हृदयस्पर्शी, स्वभावत स्निग्ध कान्ति युक्तआभिजात्य गुणों वाला काव्य का सुकुमार मार्ग होता है।

2. विचित्रमार्ग- जहाँ कवि शक्ति के प्रथम उल्लेख के समय ही शब्दार्थ में वक्रतास्फुरित होने लगती है और कवि एक ही अलङ्कार से खिन्न होकर तदनुकूल अन्यान्यअलङ्कारों की रचना कर शोभातिशय से विद्यमान अलङ्कार्य को प्रकाशित करतेहैं, जहां कवि अपने उक्तिवैचित्र्य से किसी प्राचीन वस्तु का भी वर्णनअपूर्व सौन्दर्य कोटि का कर देता है परन्तु यह सब वर्णन महाकविअपनीविलक्षण प्रतिभानुरूप विधि से ही करता है, जहां वाक्यार्थ शब्दार्थ कीअभिधाशक्ति से न कर व्यञ्जनाशक्ति द्वारा किया जाता है तथा जहाँ दो कीविचित्रता प्राणवत् आचरण करती है, ऐसा अत्यन्त कठिनता से चलने योग्यविचित्र मार्ग अतिचतुर महाकवियों के लिए भी खड्गधारा मार्ग के सदृश है।

मध्यम मार्ग- जहाँ सहज तथा आहार्य कान्ति के उत्कर्ष से शोभित सुकुमारतातथा विचित्रता संकीर्ण होकर (मिश्रित होकर) शोभित होती है, जहाँमाधुर्यादि गुणसमूह मध्यमवृत्ति का आश्रय लेकर अलौकिक बन्धरचना की शोभा केआधिपत्य का पोषण करता है तथा जहाँ सुकुमार तथा विचित्र दोनों मार्गों कीशोभास्पर्धा के साथ विद्यमान रहती है । ऐसा विभिन्न रुचियों वाला मनोहर मध्यममार्ग कहलाताहै। इसप्रकार प्रथम उन्मेष तक मार्गों के स्वरूप एवं गुणों का विवेचन कर उन्मेषका उपसंहार किया गया है। सम्पूर्ण प्रथम उन्मेष में कुल ५८ कारिकाएँ हैं।

3.4 वर्ण्य विषय

लोकोत्तरचमत्कारकारिवँ चित्र्य सिद्धये
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥ २ ॥

अलौकिकचमत्कारजनक विचित्रता की सिद्धि के लिए कोई यह काव्य का अलङ्कार ग्रन्थबनाया जा रहा है ॥ २ ॥

अलङ्कारो विधीयते अलङ्करणं क्रियते । कस्य– काव्यस्य। कवेः कर्म काव्यं तस्य । ननु च सन्ति चिरन्तनास्तदलङ्कारास्तत्किमर्थमित्याह–अपूर्वः, तद्व्यतिरिक्तार्थाभिधायी। तदपूर्वत्वं तदुत्कृष्टस्य तन्निकृष्टस्य च द्वयोरपि सम्भवतीत्याहकोऽपि, अलौकिकः सातिशयः । सोऽपि किमर्थमित्याह- लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये असामान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तये । यद्यपि सन्तिशतशः काव्यालङ्कारास्तथापि न कुतश्चिदप्येवंविधवैचित्र्यसिद्धिः ।

अलङ्करणकिया जा रहा है। किसका ? काव्य का। कवि का कर्म काव्य होता है, उसकायद्यपि बहुत से अलङ्कारग्रन्थ प्राचीन है ही, फिर भी इसका निर्माण किसलिए? इसका उत्तर है-यह अलङ्कारग्रन्थ अपूर्व है अर्थात् उनसे भिन्न अर्थ काअभिधान करने वाला है। इसकी अपूर्वता इसके उत्कृष्ट और निकृष्ट दोनों प्रकारसे होती है। उसको कहते हैं कि कोई अलौकिक, वह भी किसलिए? लोकोत्तर चमत्कारउत्पन्नकरनेवाली विचित्रता की सिद्धि के

लिए यह सामान्य आनन्ददायी विचित्रभावसम्पादन केलिए यद्यपि सैकड़ों काव्यालङ्कार हैं फिर भी इस प्रकार की वैचित्र्यसिद्धि की जा रही है।

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥ ३ ॥

कोमलपरिपाटी से कहा गया महाकाव्य धर्म अर्थ काम मोक्ष के साधन का उपाय है तथाअभिजात (फुलीन) राजपुत्रों आदि के हृदय को आह्लादित करने वाला होता है ॥ ३॥

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनकःकाव्यवन्धःसगंबन्धादिर्भवतीति सम्बन्धः । कस्येत्याकाङ्क्षायामाह-अभिजातानाम्। अभिजाताः खलु राज पुत्रादयो घर्माद्युपेयाथिनो विजिगीषवः क्लेशभीरवच, सुकुमाराशयत्वात्तेषाम् तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्यक्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह धर्मादिसाधनोपायः । धर्मादरुपेयभूतस्यचतुर्वर्गस्य साधने सम्पादने तदुपदेश रूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम् ।

हृदय में आह्लाद उत्पन्न करने वाला काव्यबन्ध होता है। किसका ? इसआकांक्षा में कहा- अभिजातों का अभिजात या कुलीन वास्तव में राजपुत्र आदिधर्म-अर्थ-काम-मोक्ष उपायों से प्राप्त करने के प्रार्थी, विजय की इच्छाकरने वाले तथा कष्टों से भयभीत सुकुमार स्वभाव वाले होते हैं। उनराजकुमारों के चित्त को प्रसन्न करने वाला होने पर भी काव्यवन्ध खिलोनोंआदि के समान प्रसिद्धता प्राप्त कराता है। इसका उनके लिए और कोई प्रयोजननहीं होता है ? इसके उत्तर में कहा गया है- धर्मादिचतुवर्ग के साधन मेंउसकी प्राप्ति का निमित्त काव्यबन्ध होता है।

व्यवहार परिस्पन्दसौन्दर्यव्यवहारिभिः ।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥ ४ ॥

लोकव्यवहारमें सदा प्रवृत्त रहने वाले लोग नूतन औचित्य से युक्त लोका. पर के व्यापारके सौन्दर्य को उत्तम काव्य के परिज्ञान द्वारा ही प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

चितम्व्यवहारोलोकनृतस्य पर व्यापारः किपाक मलक्षणस्तस्य सौन्दर्य रामणोपर्कसदस्यवहारिभिव्यभिः सत्काव्याभिगमादेव कमनीयकाव्यपर शादेवयस्मातेकोतत्सम्बर्धम् मूतनों विभिभावो मस्य । तविवमुक्तं भवति महता हि राजावांव्यवहारे नेता सर्वे मुख्यामात्यभूतः समुचितप्रातित्विकर्तव्यव्यवहारनिपुणतयानिबध्यमानाः सकलव्यवहारिवृत्तो. शामा। ततः सर्वः चकमनीयकाव्ये कृतभ्रमःसमासादित व्यवहारपरसौन्दर्यातिशयः दलाघनीयफल भाग् भवतीति ।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृ तरसे नान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ 5 ॥

बात यह है कि जो वह चतुर्वर्ग फल का आनन्द पुरुषार्थता के द्वारासमस्त शास्त्रों रूप प्रयोजन से प्रसिद्ध है। यह भी इस काव्य रूपी अमृत पानकी चमत्कार कला मात्र की कोई समानता करने योग्य नहीं है। कर्ण कटु, उच्चारणमें कठिन तथा दुर्योधत्वादि दोषों को दुष्टता वाला, अध्ययन के अवसर पर हीदुःसह दुःखदायी शास्त्र-प्रसंग तत्काल कल्पित मनोरम चमत्कार वाले काव्य कीस्पर्धा या समता किसी प्रकार भी नहीं कर सकता है। यह बात भी अर्थ से स्पष्टहो जाती है।

अलंकृति क्या है इस पर विचार करते हुए आचार्य कुंतक छठवीं कारिका में कहते हैं कि जिससे अलंकृत किया जाता है, विग्रह के अनुसार उसी को अलंकृति कहते हैं । उसी की

उपायता से अलंकार का तत्व शब्द तथा अर्थ की काव्यता कहलाता है। इसी के बाद कुंतक ने काव्य के लक्षण का निरूपण किया है।

अलंकृतिरलंकार्यमपोद्धृत्यविवेच्यते
तमुपायतया तत्वं सालंकारस्य काव्यता ।। 6।।

अलकृतिः अलरणम्-अलक्रियते ययेति विगृहमा अलङ्कृतिः विवेष्यते विधायते । यच्चाला=अलरणीयं वाचकरूप वाध्य मतदपि विवेच्यते। तयोः सामान्यविशेषलक्षणद्वारेण स्वरूपनिरूपणं क्रियते कम् अपोल्य निष्कृष्य पृथक् पृथक अवस्थाप्य, यत्र समुदायस्पे तयोरन्तर्भावः तस्माद विभज्य विभाग कृत्वा केन हेतुना ? तदुपायतया । तदिति काव्यं परामृत्यते । तस्योपायस्तस्य भावस्तदुपायता, तया हेतुभूतया तस्मादेवंविधो विवेकः काव्यत्यु. पायत प्रतिपद्यते। दृश्यते च समुदायान्तः पाविनाम् असत्यभूतानामपि व्युत्पत्तिनिमित्तम पोदभूत्य विवेचनम् यथा-पदान्तभूतयोः प्रकृति-प्रत्ययो वाक्यान्तभूतानां पदानां चेति। यद्येवमसत्यभूतोऽप्यपोद्धा रस्तदुपायतया क्रियते तत् कि पुनः सत्यमित्याह तवं सालङ्कारस्य काव्यता।

जिसके द्वारा अलङ्करण किया जाता है उसे अलङ्कृति कहते हैं। उसका विवेचन किया जा रहा है जो अलङ्कार्य अर्थात् अलङ्करणीय-वाचक वाच्य रूप है, उसका भी विवेचन किया जा रहा है। उन दोनों के सामान्य तथा विशेष लक्षणों से स्वरूप. निरूपण किया जाता है। किस प्रकार ? अपोद्धृत्य अर्थात् निकाल कर—पृथक्-पृथक् स्थापित कर जहाँ समुदाय रूप में उन दोनों को अन्तर्भाव से विभक्त कर किस कारण ? उसकी उपायता से। 'तत्' अर्थात् काव्य पर विचार किया जाता है। उसका उपाय, तदुपाय तथा उसका भाव तदुपायता कहलाती है। उसके द्वारा करणस्य होने से। उससे इस प्रकार का विवेक काव्य विवेचन की उपायता को प्रतिपादित करता है। और देखा जाता है कि समुदाय के अन्तर्गत स्थित असत्यभूतपदार्थों को व्युत्पत्ति के लिए विवेचन किया जाता है। यथा-पदान्तर्भूत प्रकृति और प्रत्यय का विवेचन तथा वाक्य के अन्तर्भूत पदों का भी विवेचन मीमांसा शास्त्र में पाया जाता है। यदि इस प्रकार असत्यभूत भी अपोद्धार (अलङ्कार तथा अलायं का पृथक-पृथक् विवेचन) उस काव्य की उपायता से किया जाता है तो फिर सत्य क्या है? इसका उत्तर है—अलङ्कारयुक्त तत्व की ही काव्यता होती है। इसका निष्कृष्ट अर्थ हुआ कि अलङ्करण सहित समस्त निरस्त अवयव होने पर ही समुदाय की काव्यता या कविकमंत्व होता है। उससे अलङ्कृत की काव्यत्व स्थिति होती है न कि काव्य का अलङ्कार से योग। किस लक्षण वाली वस्तु काव्यसंज्ञक होती है इसे कहते हैं -

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥ ७ ॥

शास्त्रादिप्रसिद्ध शब्द तथा अर्थ के उपनिबन्धन से मिन कविव्यापार से शोभित काव्यतत्त्वज्ञों को आनन्दित करने वाले काव्य में विशेष रूप से स्थित सहभावसे युक्त शब्द तथा अर्थ दोनों मिलकर काव्य होता है ॥ ७ ॥

शब्द और अर्थ काव्य होते हैं , अर्थात् वाचक और वाच्य यह दोनों ही सम्मिलित रूप काव्य होता है। 'दोनों' यह विचित्र ही कथन है। उससे जो किन्हीं का मत कविकोशलकल्पितकमनीयतातिशय शब्द ही केवल काव्य होता

काव्य का सामान्य लक्षण कर लेने के पश्चात् विशेष लक्षण प्रारम्भ किया जाता है। उसमें शब्द तथा अर्थ के स्परूप का सर्वप्रथम निरूपण किया जा रहा है।

वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः प्रसिद्धमिति यद्यपि।
तथापि काव्यमार्गेऽस्मिन् परमार्थोऽयमेतयोः ॥ ८ ॥

यद्यपि वाच्य अर्थ तथा वाचक शस्य होता है यह प्रसिद्ध है तथा इस काव्य मार्ग में इन दोनों का परमार्थ है ॥८।

वस्तु लोकप्रसिद्ध प्रतीति है—जो वाचक है वही शब्द तथा वाच्यनामक अर्थ होता है। यदि द्योतक तथा व्यञ्जक भी शब्द हो सकते हैं पर द्योतक तथा व्यन्जकों के ग्रहण न करने पर अव्याप्ति दोष नहीं है। क्योंकि अर्थ प्रतीतिकारिता के सामान्य उपचार से भी द्योतक तथा व्यञ्जक दोनों शब्द हो हैं। इस प्रकार द्योतय तथा व्यङ्गय अर्थों में भी प्रत्येयत्व सामान्य के कारण उपचार से वे दोनों वाच्यत्व ही है। इस कारण वाचकत्व और वाच्यत्व शब्द और अर्थ का संसार में यद्यपि सुप्रसिद्ध लक्षण है तथापि इस अलौकिक काव्यमार्ग या कविकर्म के मार्ग में यह इन दोनों का लक्षण परमार्थ कोई अपूर्वतत्व है, यह इसका तात्पर्य हुआ। यह कैसा है, इसे इस प्रकार कहा गया है-

शब्दो विवक्षितार्थैक वाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।
अर्थः सहृदयाह्लाद कारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥ ९ ॥

जो अर्थ विवक्षित हो अर्थात वक्ता की इच्छा का हो वह अन्य पर्यायों में होता हुआ भी एकमात्र शब्द होता है। रसिकजनों के हृदय को आनन्दित करने वाला स्वाभाविकसुन्दर ही होता है।

उभावेतावलङ्काय तयोः पुनरलङ्कुतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीमणितिरुच्यते ॥ १० ॥

शब्द तथा अर्थ दोनों ही अलार्य हैं फिर शब्द तथा अर्थ दोनों की चातुर्यपूर्ण कथन वक्रोक्ति कहलाती है॥ १०।

शब्द तथा अर्थ अलङ्का एवम् अलङ्करणीय हो। शोभाधिक्यकारी अलङ्कार के द्वारा योजनीय होते हैं। उन दोनों का है ? यह बताया जा रहा है उन दोनों का अलङ्कार होता है 'तयो संख्याविशिष्ट होने पर भी अलङ्कार केवल एक ही होता है जिसके द्वारा अयं दोनों ही अलंकृत किये जाते हैं। यह वक्रोक्ति क्या है ? प्रसिद्ध विचित्र प्रकार की उक्ति ही वक्रोक्ति है कैसी वक्रोक्ति ? चातुर्य पूर्ण कथन। वैदग्ध्य विदग्ध (चतुर) का भाव अर्थात् कवि कर्म कौशल अर्थात् सोमा, जिसके द्वारा विचित्र प्रकार का कथन वक्रोक्ति कहलाती है। तात्पर्य है कि शब्द तथा अर्थ पृथक् स्थित होकर भी किसी भिन्न अलार जाते हैं किन्तु वक्रतावैचित्र्ययोगिता से कथन ही इन दोनों शब्द तथा अर्थ सुन्दर उत्पादन होने के कारण अलङ्कार होता है। यह वक्रता वर्णन करते उद्धृत कर दिया जायेगा।

अलङ्कारकतां येषां स्वभावोक्तिरलङकुतिः।
अलङ्कार्यतयातेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥ ११ ॥

जिन आलङ्कारिकग्रन्थ रचयिताओं के लिए स्वभावोक्ति अलङ्कार ही अभिप्रेत है, उनके लिए अलङ्कार्य रूप से फिर और क्या रह जाता है ॥ ११ ॥

अलङ्कार ग्रन्थ रचिताओं दण्डी आदि के लिए स्वभावोक्ति अलङ्कार है जो स्वभाव की अर्थात् पदार्थ धर्म रूप स्वभाव की उक्ति अथवा कथन है वही अलङ्कृति या अलङ्करण

प्रतीत होती है। वे सुकुमार बुद्धि होने के कारण विवेक कष्ट से द्वेष करने वाले हैं क्योंकि स्वभावोक्ति का अर्थ क्या है ? स्वभाव ही स्वभावोक्ति होती है। वही जो अलङ्कार है; उससे पृथक् काव्यशरीर-सदृश कौन-सी वस्तु विद्यमान रहती है तथा भिन्न अवस्थिति को प्राप्त करती है, कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है।

स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्नि रुपाख्यं प्रसज्यते ॥ १२ ॥

स्वभाव के बिना वस्तु का वर्णन नहीं किया जा सकता है क्योंकि स्वभावरहित वस्तु कहने योग्य नहीं होती है ॥ १२ ॥

स्वभाव अर्थात् अपने धर्म के बिना (निःस्वभाव) वस्तु का वर्णन नहीं किया जा सकता है। वस्तु वाच्यरूप होती है। क्यों नहीं वर्णन किया जा सकता है ? स्वभावरहित होने के कारण स्वभाव से वर्जित होने से वस्तु निरुपाल्य होती है। उपाख्या से निष्क्रान्त निरूपारूप से कही जाती है अर्थात् उपाख्या शब्द, उसके द्वारा अगोचर-अभिधान करने योग्य नहीं रह जाती है क्योंकि स्वभाव शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-इससे अभिषान और प्रत्यय (कथन तथा ज्ञान) होते हैं। अपना भाव ही स्वभाव होता है। स्वभाव से वर्जित असत्कल्पवस्तु खरगोश के सींग जैसी असम्भव होती है या शब्द से अगोचर हो जाती है। स्वभाव युक्त वस्तु ही सर्वथा अभिषेय पदवी के योग्य होती है। अतः शाकटि (गाड़ी हाँकने वाले) के वाक्यों की मी अलंकारता प्राप्त हो जाती है क्योंकि वह भी स्वभाव से युक्त होते हैं। यही बात इस रूप से स्थापित करते हैं

शरीरं चेदलङ्कारः किमलङ्कुरुतेऽपरम् ।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥ १३ ॥

यदि शरीर ही (किसी वस्तु का स्वभाव रूप) अलङ्कार है तो वह किसी अन्य अलङ्कार्य को अलङ्कृत करता है। अपने आप अपने कन्धे पर कहीं कोई आरोहण करता है अर्थात् कदापि नहीं ॥ १३ ॥

जिस किसी वर्णनीय वस्तु के वर्णनीयत्व से स्वभाव ही वण्यं शरीर होता है वही मंदिर है तो फिर दूसरी वस्तु (भिन्न) क्या शेष रहती है जो कि उसे विभूषित करती है। यदि वह अपने को ही विभूषित करती है तो यह कहना ठीक नहीं है-अनुपपत्ति के कारण क्योंकि अपने आप ही अपने कन्धे पर कहीं सवार नहीं हुआ जाता है।

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे ।
मेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥ १४ ॥

स्वभावोक्ति को अलङ्कार मान लेने पर काव्य में दूसरे अलङ्कारों की रचना पर भेद ज्ञान स्पष्ट रहेगा अथवा अस्पष्ट ॥ १४ ॥

स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे सङ्करस्ततः ।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥ १५ ॥

स्वभाव के भूषणत्व होने पर अपने परिस्पन्द (धर्म) का जब अन्य भूषण या अलंकार का विधान किया जाता है तब ऐसा करने पर उस दूसरे द्वार के होने पर दो गतियाँ सम्भव है। वह कौन-सी गति अथवा स्थिति है ? स्वभावोक्ति तथा अन्य दोनों अलङ्कारों का भेद ज्ञान अर्थात् मिलता का प्रतिभास प्रकट के सुस्पष्ट और कभी अप्रकट अथवा अपरिस्फुट होता है ।तब स्पष्ट अथवा प्रकट होने पर उसमें सभी जगह तथा सम्पूर्ण कविवाक्य में एक संसृष्टि अलंकार ही प्राप्त होता है । उसके अस्पष्ट या अप्रकट होने पर एक संकर अलङ्कार प्राप्त होता है तब फिर क्या

दोष होगा ? इसका उत्तर देते हुए कह रहे है-दूसरे अलङ्कारों का विषय ही दोष नहीं रह जायेगा। उपमादि दूसरे अलङ्कारों का विषय अर्थात् प्राप्ति का स्थान ही कहीं भी नहीं बचेगा अर्थात् निर्विषयत्व को प्राप्त हो जायेंगे। तब इनका लक्षण करना ही व्यर्थ हो जायेगा अथवा यदि वे दोनों संसृष्टि तथा संकर उनके विषयत्व से मान भी लिये जायँ तो भी कुछ नहीं । क्योंकि उन्हीं अलंकार रचयिताओं द्वारा वह अर्थ अस्वीकार किया गया है।

शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्व विधीयते॥ १६॥

अवियुक्त शब्द तथा अर्थ ही सदा स्फुरित होकर काव्यरूप में प्रतीत होते हैं। वे दोनों शब्द तथा अर्थ ही अवियुक्त होने पर काव्य होते हैं अतः किस अपूर्व बात का विधान किया जा रहा है॥ १६॥

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः॥ १७॥

अत्यन्तसौन्दर्य द्वारा प्रशंसा प्राप्त करने के प्रति इन शब्द तथा अर्थ दोनों की अन्यून (विपुल) तथा परस्परस्पर्धा से रमणीय यह अपूर्व स्थिति साहित्य कहलाती है॥ १७॥

सहितयोर्भावः साहित्यम् । अनयोः शब्दार्थयोर्या काप्यलौकिकी चेतन चमत्कारकारितायाः कारणम् अवस्थितिविचित्रैव विन्यासभङ्गी । कीदृशी अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिणी, परस्परस्पधित्वरमणीया । यस्यां द्वयोरेकतर स्यापि न्यूनत्वं निकष न विद्यते नाप्यतिरिक्तत्वमुत्कर्षो वास्तीत्यर्थः।

3.5 सारांश

वक्रोक्तिजीवितम् ग्रन्थ में कुल चार उन्मेष हैं प्रथम उन्मेष के कुछ अंश के सिद्धान्त ही आपके अध्ययन के लिए इस इकाई में प्रस्तुत किय गये हैं। संस्कृत काव्य शास्त्र के सम्प्रदायों में मुख्य ऐतिहासिक और साहित्यिक तथ्यों के अध्ययन के लिए निर्धारित इस पाठ्यक्रम के काव्यशास्त्र की ऐतिहासिक परम्परा नामक चौथे खण्ड की तीसरी इकाई में आप कुन्तक के मत का अध्ययन कर चुके। प्रथम उन्मेष का साहित्य स्वरूप विवेचन पर्यन्त वर्णन भी प्रस्तुत इकाई का अभीष्ट है। मंगलाचरण के बाद आचार्य ने अलौकिक चमत्कार जनक विचित्रता की सिद्धी के लिए कारिका लिखी है। महाकाव्य धर्म अर्थ काम मोक्ष आदि पुरूषार्थों की प्राप्ति कराता है। और अभिजात वर्ग के हृदय का आहलाद कारक होता है। शब्द और अर्थ के निम्बन्धन से काव्य सुशोभित होता है। ऐसा बताते हुए कुन्तक ने काव्य के लक्षण का प्रतिपाद्यन किया है। रूपक आदि अलंकारों को भी माना है। इसी प्रकार आचार्य ने वाच्य और वाचक शब्दों का भी विचार किया है। अन्त में 16 वीं कारिका में साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए आचार्य ने कहा है शब्द तथा अर्थ ही सदा स्फुरित होकर काव्य रूप में प्रतीत होते रहते हैं। इन्हीं के सहभाव का विधान काव्य साहित्य में होता है। इस प्रकार प्रथम उन्मेष के प्रमुख तथ्यों के वर्णन का अध्ययन करने पर आप वक्रोक्ति के विषय में बताए गए काव्य लक्षण से लेकर साहित्य के स्वरूप तक की व्याख्या कर सकेंगें।

3.6 शब्दावली

काव्यत्वम्	=	काव्यता। इति
एतत्	=	इदम्।
अभिषीयते	=	कथ्यते।
सत्यम्	=	तथ्यम्।
असत्यभूतः अपि	=	मिथ्याभूतोऽपि।
अपोद्धारबुद्धिविहितः	=	अपोद्धारबुद्धिभिः
बिभागः	=	भेदः।
कर्तृ शक्यते	=	विषास्यते।
उक्तम्	=	कथितम्।
क्वचित्	=	क्वापि।
विहिते	=	कृते।
भेदावबोधः	=	विभेदज्ञानम्।
प्रकटः	=	स्पष्टः।
अथवा	=	वा
अप्रकटः	=	अस्पष्टः स्यात्।
सहितयोः	=	शब्दार्थयुक्तयोः भावः साहित्यं भवति।
अनयो	=	एतयोः शब्दार्थयोः। या,
कापि	=	काचित्।
अलौकिकी	=	अद्भुता।
चेतनचमत्कार कारितायाः	=	सहृदयानन्दकारिताया।
कारणम्	=	हेतुः।
अवस्थितिः	=	स्थिति।
विन्यासभङ्गी	=	विन्यासमङ्गिमा।
स्पधित्वरमणीया	=	अन्योन्यस्पर्धया मनोरमा।
यस्यां द्वयोः	=	शब्दार्थयोरुभयोः।
एकत स्यापि	=	एकस्यापि।
न्यूनत्वम्	=	हीनत्वं।
निकर्षः	=	अपकर्षः।
न विद्यते	=	नैव वर्तते
वा	=	अथवा।
अतिरिक्तत्वम्	=	आधिक्यम्।
उत्कर्षः	=	उत्थानम्।

3.7 सन्दर्भग्रन्थ

1.वक्रोक्ति जीवितम पंडित परमेश्वर दीन पांडेय, सुधा व्याख्या प्रकाशक- चौखंबा सुरभारती वाराणसी

2. ध्वन्यालोक,व्याख्याकार- आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

3. ध्वन्यालोक संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीयविद्याप्रकाशन, दिल्ली

4.संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

3.8 निबन्धात्मक प्रश्न

1 .संस्कृत काव्यशास्त्र में कुन्तक के योगदान का वर्णन कीजिए।

2. वक्रोक्तिजीवितम् प्रथमउन्मेष में वर्णन किए गए तथ्यों की व्याख्या कीजिए।

3. वक्रोक्तिजीवितम् ग्रंथ में कुन्तक द्वारा वर्णन किए गए काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की समीक्षा कीजिए।

इकाई 4 : साहित्यदर्पण दशम परिच्छेद

उपमा, रूपक, भ्रांतिमान, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, प्रतीप, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता, रसवत,दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, विभावना, विशेषोक्ति, तद्गुण, अतद्गुण, संकर, संसृष्टि, पर्याय

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 उपमा, रूपक अलंकार
4.4 भ्रांतिमान, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति
4.5 प्रतीप, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता
4.6 रसवत, दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा
4.7 विभावना, विशेषोक्ति, तद्गुण
4.8 अतद्गुण, संकर, संसृष्टि, पर्याय
4.9 सारांश
4.10 शब्दावली
4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ
4.12 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

संस्कृत काव्यशास्त्र के तत्वों के वर्णन से संबंधित यह चौथी इकाई है। इस इकाई मैं आप के अध्ययन के लिए आचार्य विश्वनाथ के द्वारा रचित साहित्य दर्पण नामक ग्रन्थ के दसवें परिच्छेद के आधार पर शब्द पर आश्रित शब्दालंकार तथा अर्थ पर आश्रित कुछ अर्थालंकार के वर्णन आप के अध्ययन के लिए प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में अलंकारों का लक्षण करने की परंपरा बहुत पुरानी है। वस्तुतः अलंकारों के तत्व वेद से ही पाए जाते हैं। आचार्य भरत मुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की सम्पूर्ण परम्परा में अलंकारों का लक्षण और उदाहरण लिखने की परम्परा चली आ रही है। काव्यप्रकाश से पहले के सभी ग्रन्थों में शब्द पर आश्रित तथा अर्थ पर आश्रित अलंकारों के लक्षण और उदाहरण बताए गए हैं। इस परंपरा में आचार्य भामह, दंडी, रूद्रट आदि सभी आते हैं। जयदेव का नाम भी इस परंपरा से अछूता नहीं।अलंकार सर्वस्व नामक ग्रंथ आचार्य रूय्यक का है, इसमें भी सभी प्रकार के अनेक अलंकारों के लक्षणों उदाहरण का वर्णन प्राप्त होता है।

प्रस्तुत इकाई में आपके अध्ययन के लिए आचार्य विश्वनाथ द्वारा रचित साहित्य दर्पण नामक ग्रन्थ के दसवें परिच्छेद में वर्णित कुछ शब्दालंकार और अर्थालंकार के लक्षण और उदाहरण को दर्शाया गया है। अतः इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप वर्णन किए गए सभी अलंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने में सक्षम हो सकेंगे।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- ❖ साहित्यदर्पण के दशम परिच्छेद से अवगत हो सकेंगे।
- ❖ उपमा अलंकार को परिभाषित कर सकेंगें।
- ❖ रूपक, अलंकार को परिभाषित करेगें।
- ❖ अर्थालंकार के विषय बता सकेगे।
- ❖ अप्रस्तुतप्रशंसा को परिभाषित करेंगे।
- ❖ रूपक अलंकार का लक्षण बता सकेगें।
- ❖ संसृष्टि के विषय में बता सकेगें।
- ❖ रसवत, अलंकार के विषय में बता सकेंगे।

4.3 उपमा, रूपक अलंकार

अथावसरप्राप्तेष्वर्थालङ्कारेषु सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेपामप्युपप्राधान्यात् प्रथममुपमामाह-

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ॥ १४ ॥

रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः, उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्याः भेदः ।

साहित्यदर्पण में अर्थालंकारों के निरूपण के आरम्भ में, सादृश्यमूलक अर्थ विवेचन की आवश्यकता समझकर, सर्वप्रथम 'उपमा' का स्वरूप-विवेचन किया गया है । यही वह अलङ्कार है जिसे सादृश्यमूलक अर्थालङ्कारों में मूल माना गया है औरजो सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण अलंकार है। 'उपमा' क्या है ? 'उपमा' वह अलंकार है, जिसे उपमान और उपमेय

का ऐसा साम्य अथवा 'सादृश्य' कहा करते हैं जो किस्पष्ट रूप से एक वाक्य में प्रतिपादित रहा करता है, और जिसमें वैधर्म्य की कोई भी चर्चा नहीं हुआ करती।

तात्पर्य यह है कि उपमा दो पदार्थों का वह वैधर्म्यवाच्य साम्य है जो कि एक वाक्य-प्रतिपादन करता है'- परिभाषा से यह स्पष्ट है कि उपमा 'रूपक' आदि से जिनमें (दो पदार्थों का) साम्य (वाच्य नहीं अपितु) व्यङ्गय हुआ करता है।व्यतिरेक से अलग है । जिसमें (साम्य के साथ-साथ) वैधर्म्य की भी चर्चा रहा करती है, 'उपमेषो दमा' से एक रूप नहीं जिसमें साम्य (एक वाक्य में नहीं अपितु) दो वायों में प्रतिपादित हुआ करता है और 'अनन्वय' से भी अलग है जिसमें दो पदार्थों का नहीं अपितु) एक पदार्थ का ही साम्य वर्णित रहा करता है। राजशेखर नें कहा -

'अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसंपदाम् ।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति, मतिर्मम ॥"

'उपमा' वस्तुतः कविता की जननी है 'उपना' पर कविवंश का अस्तित्व निर्भर है। 'उपमा' कविता का सर्वस्व है और यही वह अलंकार है जो कि कविता का चूड़ामणि है। आलंकारिक 'उपमा' को अलंकार-वृक्ष का बीज मानते हैं।

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्।। सा उपमा । साधारणधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतू मनोइत्यादि । औपम्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमानं चन्द्रादि ।

यह उपमा तब 'पूर्णोपमा' हुआ करती है जबकि इसमें उपमेय, उपमान,साधारण धर्म और उपमावाचक पद सभी स्पष्ट रूप से प्रतिपादित रहा करते हैं। यहां कारिका में 'सा' का अभिप्राय 'उपमा' का है, 'साधारण धर्म' का अभिप्राय और उपमेय रूप से अवस्थित दो पदार्थों के पारस्परिक सादृश्य के नियामक 'मनोज्ञत्व' (सौन्दर्य) आदि गुण किंवा किया आदि का है और 'औपम्यवाचक' का अभिप्राय सादृश्य के साक्षात् प्रतिपादक 'इय' आदि पदों का अभिप्राय है। 'उपमेय' उसे कहते हैं जो कि सादृश्य का आश्रयभूत पदार्थ हुआ करता है जैसे कि 'मुख' आदि और 'उपमान' वह है जिसे सादृश्य का निश्चित रूप से संबन्धी पदार्थ कहा जाया करता है जैसे कि 'चन्द्र' आदि।

रूपक—

आचार्य विश्वनाथ कहते हैं -

रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे ।।

अर्थात् रूपक वह अलङ्कार है जिसे (विषयी अथवा उपमान द्वारा अनपह्नुत (न छिपाये गये) विषय (आरोप विषय-उपमेय) पर विषयी (उपमान) का अभेद आरोप कहा जाया करता है।

'रूपित-' इति परिणामाद् व्यवच्छेदः ।

तत्परम्परितं सांगं निरङ्गमिति च त्रिधा ॥ २८ ॥ साहत्यिदर्पण।।

तद्रूपकम् ।

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् ।
तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ।। २९ ॥
प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम् ।

अर्थात् रूपक के उक्त तीनों भेदों में 'परम्परित' रूपक वह रूपक है जिसमें एक का अभेदारोप दूसरे के अभेदारोप का कारण हुआ करता है। इसके दो भेद हैंश्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित और अश्लिष्टशब्दनिबन्धन परम्परित । अर्थात् श्लिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित भी दो प्रकार का है- श्लिष्टशब्दनिबन्धनकेवलपरम्परित और श्लिष्टशब्दनिबन्धनमालापरम्परित । इसी प्रकार अलिष्टशब्दनिबन्धनपरम्परित भी 'केवल' और 'माला' भेद से से दो प्रकार का होता है।

तत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितम् ।

आहवे जगदुद्दण्ड ! राजमण्डलराहवे।

श्रीनृसिंहमहीपाल ! स्वस्त्यस्तु तब बाहुवे ।।

राजमण्डलं नृपसमूह एव चन्द्रबिम्बमित्यारोपो राजबाही राहुत्यारोपे अत्रनिमित्तम् ।मालारूपं यथा-

'पद्मोदयदिनाधीशः सदागतिसमीरणः ।

भूभृदावलिदम्भोलिरेकएव भवान् भुवि ।।" अत्र पद्माया उदद्य एवं पद्मानामुदयः, सतामागतिरेव सदागमनम् भूभृतो राजान एवं पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञः सूर्यत्वाद्यारोपनिमित्तम् । अश्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलं यथा-

'पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गव्याघात कर्कशाः ।

त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारोहरिबाहवः ।।

श्लिष्टशब्दनिबन्धन 'केवल 'परम्परित-

हे नृसिंह महीपाल ! हे महापराक्रमी महाराज ! संग्राम में प्रचण्डबलशाली राज मण्डल रूपी चन्द्रमा के लिये राहुस्वरूप आप का भुजदण्ड सदा विजयी हो । यहाँ 'राजमण्डल' शब्द श्लिष्ट है क्योंकि इसका अभिप्राय 'राजसमूह' और 'चन्द्रविम्बदोनों है। इस प्रकार यहाँ 'राजमण्डल' रूप विषय पर 'राजमण्डल' (चन्द्र विम्ब) रूप विषयी का आरोप स्पष्ट है। और जैसा कि यह आरोप वर्ण्य भूपाल के बाहु दण्ड पर राहु के आरोप का निमित्त लग रहा है, यहाँ ष्टशब्दनिबन्धन 'केवल'परम्परित रूपक का लक्षण स्पष्टतया घटित हो रहा है।

श्लिष्टशब्दनिबन्धन 'माला' परम्परित-

हे महाराज ! इस जगतीतल पर आप ही एक ऐसे हैं जो 'पद्मोदय' (ऐश्वर्य-परा काष्ठा) रूप 'पद्मोदय' (कमलविकास) के लिये सूर्यरूप, 'सदागति' (सज्जनागम) रूप 'सदागति' (निरन्तर विचरण) के लिये पवन रूप और 'भूभृदावलि' (राजवर्ग) रूप 'भूभृदावलि' (पर्वतसमूह) के लिये वज्ररूप से सदा विराजमान हैं।"

यहाँ भी 'पद्मोदय', 'सदागति' और 'भूभृदावलि' पद लिष्ट पद हैं। यहाँ पद्मा अथवा लक्ष्मी के उदय (पद्मोदय) पर, पद्मों के उदय (पद्मोदय = कमलविकास) का आरोप, सजनों के आगमन (सदागति) पर सदा आगमन (सदागति) का आरोप और 'भूत' दावलि (राजसमूह) पर भूभृदावलि (पर्वतसमूह) का आरोप स्पष्ट है और यह भी स्पष्ट है कि यह आरोप वण्यं भूपाल पर सूर्य, पवन और वज्र की आरोप माला का निमित्त बन रहा है।

"मेघ के समान श्याम, शार्ङ्ग धनुष की प्रत्यक्षा के आस्फालन से कठोर किंवा डोक्य रूपी मण्डल के स्तम्भरूप, भगवान् विष्णु के चारों भुजदण्ड आप सब का कल्याण करें। अश्लिष्टशब्दनिबन्धन 'केवल'परम्परित का उदाहरण यह है यहाँ कोई भी शब्द श्लिष्ट नहीं और

त्रैलोक्य पर मण्डप का जो आरोप है वह विष्णु भुजाओं पर स्तम्भ के आरोप के निमित्तरूप से प्रतीत हो रहा है।

अश्लिष्टशब्दनिवन्धन 'माला' परम्परित का उदाहरण-

अत्र त्रैलोक्यस्य मण्डपत्वारोपो हरिबाहूनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तम् । मालारूपं तथा-

मनोजराजस्य सितातपत्रं श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः ।
विराजते व्योमसरः सरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दुबिम्बम् ॥
अत्र मनोजादे राजत्वाद्यारोपञ्चन्द्रबिम्बस्य सितात पत्रत्वाद्यारोपे निमित्त 'तत्र च राजभुजादीनां राहुत्वाद्यारोपो राजमण्डलादीनां चन्द्रमण्डलवाया निमित्तम्' इति केचित् ।

कामरूप राजराजेश्वर का श्वेत राजच्छत्र, पूर्वदिशारूप सुन्दरी का चन्दनतिर और गगनरूप सरोवर का कमल यह कर्पूरशुभ्रचन्द्रविम्ब कितना सुन्दर लग रहा है।स्पष्ट है कि 'काम' आदि पर 'राजा' आदि का जो अभेदारोप है वह का बिम्ब' आदि पर 'श्वेतच्छत्र' आदि के अभेदारोप के निमित्तरूप से विराजमान है। इस प्रकार इस आरोप माला में, अश्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के कारण, अश्लिष्टशब्दनिबन्दन'माला' परम्परित रूपक स्पष्ट झलक रहा है।

सांगरूपक : समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति

अंगिनो यदि साङ्गस्य रूपणं सांगमेव तत् ॥ ३० ॥

समस्तवस्तुविषयमेकदेश विवर्तिच। आरोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥ ३१ ॥
प्रथमं समस्तवस्तुविषयम् ॥

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्थिरोदधे ॥

द्वितीय भेद सांगरूपक वह रूपक है जिसमें अंगों के रूपण के साथ अंगी का रूपण हुआ करता है। इस रूपक प्रकार के भी दो भेद हैं--विषय और एकदेशविवर्ति ।

समस्तवस्तुविषयसाङ्गरूपक वह रूपक हुआ करता है जिसमे (कवि-निरूपित) समस्त आरोप्यमाण (उपमान) शब्दतः उपात्त रहा करते हैं। यहाँ (कारिका में) 'प्रथमम्' का तात्पर्य 'समस्तवस्तुविषय' प्रकार के रूपक का

है।उदाहरण यह है जब कि विष्णुरूपी मेघ ने रावणरूपी अवग्रह (अवर्षण) से क्लान्त देववृन्दरूपी सस्य(धान्य मालि-क्षेत्र) को वाणीरूपी अमृतवर्षा से सींच दिया तब वह तिरोहित हो गया।" यहाँ रूपक की 'सांगता' और 'समस्तवस्तुविषयता' इसलिये है क्योंकि कवि ने अवस्थित 'मेघ' रूप आरोप्य माण (उपमानभूत) पदार्थों को शब्दतः किया है। और इसके अङ्ग-रूप से निरूपित 'सस्य' तथा 'अवग्रह' और अमृत आरोग्यमाण पदार्थों को भी शब्दतः ही उपनिबद्ध किया है।

कस्यचिदारोष्यमाणस्य यथा

'लावण्यमधुभिःपूर्णमास्यमस्याविकस्वरम् ।
लोकलोचनरोलम्बकदम्बेः कैर्न पीयते ॥

इसका उदाहरण यह है 'लोगों के कौन ऐसे नेत्ररूपी भ्रमरसंघ नहीं हैं जो कि लावण्यरूपी मधु रस से इसके खिले मुख के पान के लम्पट हैं।"

निरंग रूपक–

निरंगं केवलस्यैव रूपणं तदपि द्विधा ॥ ३२ ॥ -
मालाकेवलरूपत्वात्–

मालारूपं निरंगं यथा

"निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिका लोकचक्षुषाम् ।
क्रीडागृहमनङ्गस्यसेयमिन्दीवरेक्षणा ॥

केवलं यथा

दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि! नात्र दूये।
उद्यत्कठोरपुलकारकण्टकाग्रै
यद्विद्यते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे।।

रूपक का तृतीय- भेद 'निरङ्ग' रूपक वह रूपक है, जिसमें अंगीरूप से अवस्थित आरोप्यमाण (उपमान) का ही अभेदारोप हुआ करता है। यह भी दो प्रकार का है-

'माला' निरङ्ग रूपक और केवल निररूपक अर्थात् माला 'निरङ्गरूपक का उदाहरण यह है 'यह कमलनयनी सुन्दरी विधाता की निर्माणचातुरी है, लोकनेत्रकी चन्द्रिका हैऔर अनङ्ग की विलासभूमि है।"

यहाँ रूपक की 'निरङ्गता' और 'मालारूपता' इसलिए है क्योंकि कवि ने यहाँ अपने प्रधान वर्ण्य विषय 'सुन्दरी' का ही तीन-तीन आरोप्यमाणपदार्थो जैसे कि 'निर्माण चातुरी', 'चन्द्रिका' और 'विलासभूमि' से तादात्म्यारोप स्थापित किया है, न कि इससे संबद्ध अंगों का भी ।

'केवल' निरङ्गरूपक का उदाहरण

'अरी सुन्दरी ! इसका मुझे क्लेश नहीं कि यदि दास अपराध करे तो उसे स्वामी कापादप्रहार सहना ही पड़ता है। मुझे तो इसका डर है कि तेरे चरण स्पर्श से उत्पन्न, मेरे अंग के पुलक अंकुररूपी कॉटों से, तेरा कोमल चरण न दुख जाय । [यहाँ 'केवल' निरङ्ग रूपक इसलिये है क्योंकि कवि ने 'पुलकाररूप विषय का ही 'कण्टकामरूप विषयी से अभेदारोप स्थापित किया है न कि उससे सम्बद्ध अंगों का भी।

4.4 भ्रांतिमान, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति

भ्रांतिमान

साम्यादतस्मिंस्तदबुद्धि भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ॥

उदाहरण - मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो बल्लवा:
कर्णे कैरवशंकया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि ।
कर्कन्धू फलमुच्चिनेति शबरी मुक्ताफलाशंकया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका |

भ्रांतिमान अलंकार और अलंकार है जिसे समानता के कारण एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अनुभव कहा जाया करता है जो वास्तविक न होकर कवि की प्रतिभा के द्वारा बताया गया हो।

प्रस्तुत उदाहरण में चंद्रमा की चमकती चांदनी किसके हृदय में भ्रम नहीं पैदा करती। मुक्त हृदय वाले गोपवृन्द, इसे दूध की धार समझ लेते हैं और उसे रोकने के लियेगौओं के स्तनों के नीचे दोहन-घट रखने लगते हैं, मुग्धहृदय रमणियाँ इसे देखकर, नीलकमल को भी श्वेत कमल मान लेती हैं, और कार्यों का अलङ्कार बनाने लगती हैं और शवरयुवतियां जब इसे देखती हैं तथ तो कर्क (झरबेरी) को भी मोती मानकर चुनने में लग जाती हैं।' यहाँ चन्द्रिका में दुग्ध,

कुवलय में कुमुद और बदरीफल में मुक्ताफल का जो कविप्रतिभोत्थापित भ्रम है उसमें 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार का स्वरूप स्पष्ट रूप से परिलक्षितहो रहा है।

ध्यान रखना चाहिये कि 'सीप में चांदी' सरीखी भ्रान्ति को भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं माना जाया करता 'भ्रान्तिमान् अलङ्कार वह'भ्रान्ति' है जो कि एक मात्र कविप्रतिभा द्वारा उत्थापित हुआ करती है। साथ ही साथ यह वही 'भ्रान्ति' भ्रान्तिमान् अलङ्कार की रूपरेखा है जो कि सादृश्यमूलक हुआ करती है ? इसलिये इस प्रकार की भ्रान्ति जो कि इस सूक्ति अर्थात् यदि यह सोचा जाय कि उस सुन्दरी के मिलन और विरह में कौन अच्छा है तोमिलन को तो कदापि अच्छा नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब कि उससे मिलन होता हैतब वह अकेली लगा करती है और जब उससे विरह होता है तब ऐसा लगता है जैसेसमस्त संसार में वही व्याप्त है।"प्रतीत हो रही है, 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार नहीं अपितु भावनासंभूत भ्रान्तिमात्र है।

उत्प्रेक्षालङ्कार

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना ।
वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता ॥ ४० ॥
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः ।
जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥ ४१ ॥

उत्प्रेक्षावह अलङ्कार है जिसे अप्रकृत के रूप में प्रकृत की सम्भावना कहा करते हैं। इसके प्रथमतः दो प्रकार हैं- वाच्योत्प्रेक्षा और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

तदष्टधापि प्रत्येकंभावाभावामिमानतः ।
गुण क्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः ॥
द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति

वाच्योत्प्रेक्षा

'उरुः कुरङ्ग कदृसश्चंचलचेलांचलो भाति ।
सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव।।

पहली वह है जिसमें इव आदि वाचक पदों का प्रयोग हुआ करता है और दूसरी अर्थात् जिसमें 'इव' आदि उत्प्रेक्षावाचक पर्दों का प्रयोग नहीं हुआ करता। इन दोनों की में जो 'उत्प्रेक्ष्य वस्तु है वह -जाति, गुण क्रिया और द्रव्य के भेद से आठ प्रकार की हुई। ये अष्टविध भी 'भावाभिमान' और 'अभावाभिमान' के भेद से सोलह प्रकार की और इन उप्रेक्षाओं में निमित्त के गुणरूप और क्रियारूप से द्विविध होने के कारण उत्प्रेक्षा के ३२ प्रकार हो गये।

इस मृगनयनी का ऊरु, जिस पर हवा से हिलता अंशुक लहरा रहा है, ऐसा है मानो कामदेव का वह स्वर्णमय विजयस्तम्भ हो, जिस पर एताका फहरा रही हो? यहाँ वाच्योत्प्रेक्षास्पष्ट है क्योंकि 'इव' शब्द प्रयुक्त है ।

अतिशयोक्ति—

सिद्धयेऽध्यवासायस्यातिशयोक्तिनिंगपते ।
विषय भेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः ।
अस्य चोप्रेक्षायां विपयिणोऽनिश्चितत्वेन निर्देशात्साध्यत्वम् इह तु निश्चित मात्रेण, इहापि मुखं द्वितीयश्चन्द्र इत्यादी
यदाहुः'विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः ।
अधःकरणमात्रेण निगोणत्यं प्रचक्षते ।।'

इति। भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ॥ ४६ ॥

अतिशयोक्ति वह अलङ्कार है जिसे 'अध्यवसाय' की सिद्धि की प्रतीतिकहा जाता है। 'अध्यवसाय' क्या है ?'अध्यवसाय' है विषय (उपमेय) के निगरणपूर्वक उस (निगीर्ण-स्वरूप-विषय) के साथ विषयी (उपमान) की अभेद-प्रतिपत्ति यह 'अध्यवसाय' उत्प्रेक्षा में भी रहा करता है किन्तु सिद्धरूप का न होकर साध्यरूप का ही हुआ करता है क्योंकि जब कि 'उत्प्रेक्षा' में 'विषयी' (उपमान) का निर्देश अनिश्चित रूप से किया जाया करता है, 'अतिशयोक्ति' में ऐसा हुआ करता है कि 'विषयी' (उपमान) निश्चित रूप से निर्दिष्ट प्रतीत हुआ करता है। 'उत्प्रेक्षा ' में 'विषय निगरण' का अभिप्राय 'विषय का अधःकरणमात्र'- उसके वास्तविक स्वरूप का अप लापमात्र है और 'अतिशयोक्कि' में, जैसे कि 'यह मुख दूसरा चन्द्रमा है आदि अति शयोक्ति में, जो विषयनिगरण है उसमें भी विषय का अधःकरणमात्र ही दिखायी दे रहा है। इसलिये कहा भी गया है 'चाहे विषय का शब्दतः उपादान हो या न हो, यदि उसका स्वरूप अधिकृत है। 'अतिशयोक्ति' पाँच प्रकार की है-भेद में भी अभेद-वर्णना, सम्बन्ध में भी असंबन्ध-वर्णना, अभेद में भी भेद-वर्णना, सम्बन्ध में भी सम्बन्ध वर्णना और कार्य कारण भाव-नियम की विपर्यय वर्णना। अभेद-वर्णनारूप अतिशयोक्ति का यह उदाहरण देखिये

कथमुपरि कलापिनः कलापो बिलसति तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम्।
कुबलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात्।

यह कैसा आश्चर्य है ! ऊपर मयूर-कलाप है, नीचे अष्टमी का चन्द्रमा उसके नीचे दो चाल नीलकमल झलक रहे हैं, उनके नीचे तिल का फू दे रहा है और तद विद्रुम (मूंगे) का सौन्दर्य निखर रहा है।" यहाँ यह स्पष्ट है कि कामिनी के केशपाश-भालफलक नेत्र- नासिका और अरोड मयूरकलाप, अष्टमीचन्द्र, नीलकमल, तिलपुष्प और विद्रुम से भेद होने पर भी, अनेकअध्यवसाय विराजमान है जिसमें 'अतिशयोक्ति' अलङ्कार है।

अभेदे भेदो यथा

'अन्यदेवाङ्गलावण्य मन्याः सौरभसम्पदः तस्याः पद्मपलाशाच्या सरसत्यमलौकिकम् ।।।

सम्बन्धेऽसम्बन्धो यथा

'अस्याः सर्गविधी प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः श्रृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्त कौतूहलो , निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।।

सम्बन्ध में असम्बन्धरूप अतिशयोक्ति का उदाहरण

क्या इस उर्वशी की सृष्टि का प्रजापति कान्ति का अनवरत स्रोत चन्द्रमा है या प्रेम का देवता मदन है ? या फूलों का आकर वसन्त है ? वेदाभ्यास से जड़बुद्धि किया विषयों से विरत हृदयवाले ब्रह्मा का क्या सामर्थ्य जो ऐसे मनोहर रूप का निर्माण कर सके। यहाँ 'सम्बन्ध में असम्बन्ध' इसलिये स्पष्ट है क्योंकि उर्वशी की सृष्टिब्रह्मा के सामर्थ्य का सम्बन्ध होने पर भी, 'वेदाभ्यासजडत्व' आदि के कारण, असम्बन्ध का ही निरूपण किया गया है।

4.5 प्रतीप, व्याजोक्ति, तुल्ययोगिता

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।

निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥ ८७ ॥

उपमेयरूप में प्रसिद्ध उपमान की कल्पना अथवा निष्फलता का प्रतिपादन जिसमें होता है वह प्रतीप कहलाता है। जैसे प्रसिद्ध उपमान की उपमेय-कल्पना में 'प्रतीप"

यशयन्ने प्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरम्" इत्यादि

प्रसिद्ध उपमान की निष्फलता के प्रतिपादन में 'प्रतीप'

तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद्युतिः, तच्चक्षुर्यदि हारितः कुवलयैस्तच्चेत्स्मितं का सुधा ?। विक्कन्दर्पधनुर्भवौ यदि च ते किं वा बहुब्रूमहे,यत्सत्यं पुनरूक्त वस्तु विमुखः सर्गक्रमो वेधसः।।

अत्र वक्त्रादिभिरेव चन्द्रादीनां शोभातिवहनात्तेषां निष्फलत्वम्

अरी सुन्दरी ! वह नीलकमल जो तेरे नयनों के समान सुंदर और मनोहर पानी में जा डूबा है' आदि आदि। विधाता की इस सृष्टि में एक वस्तु के बराबर दूसरी तु नहीं रहा करती क्योंकि यदि वह (सुन्दरी का) मुख दे तो चन्द्रमा की चर्चा पर्थ है, यदि यह (सुन्दरी के देह की) कान्ति है तो सोना विचारा किस काम का यदि वह (सुन्दरी की) आँखें हैं तो मीलकमट तो कहीं के न रहे, यदि वह (सुन्दरी की) मुस्कुराहट है तो सुधा कुछ नहीं जँचती और अधिक क्या कहा जाय, यदि वह (सुन्दरी को) भृकुटि है तो कामदेव के धनुष को चित्रकार है।' यहाँ 'मुख' आदि में ही 'चन्द्र' आदि की अपेक्षा अधिक 'सौन्दर्य' आदि के होने केकारण चन्द्र आदिरूप प्रसिद्ध उपमानों की निष्फलता का प्रतिपादन स्पष्ट है जिसमें प्रतीप है।

व्याजोक्ति का लक्षण—

व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।

उदाहरण

शैलेन्द्र प्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लसद् रोमांचादिविसंष्ठुलाखिल विधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः । आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं शैलान्तः पुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वःशिवः ||

व्याजोक्ति वह अलङ्कार है जिसमें किसी उद्भिन्न अथवा प्रकट हुई भी वस्तु के किसी बहाने से छिपाने का अभिप्राय अन्तर्भूत रहा करता है। जैसे कि इस पद्य में -

'वे शिव, जो हिमालय द्वारा कन्यादान के समय, पार्वती के कङ्गन से आनन्द-रोमाञ्च से होने के कारण, समस्त विवाह विधि में गड़बड़ी पैदा करने से व्याकुल हुआ करते हैं और अपने इस प्रेमातिरेक को छिपाने के लिये 'ओह! हिमाचल के हाथ कितने ठंढे हैं' कह कहकर मुस्करा दिया करते हैं जिससे हिमालय के अन्त:पुर में विराजमान मातृमण्डल भी हँसी से लोटपोट हो जाता है, शिव सबका सदा कल्याण करते रहें।"यहां 'ब्याजोक्ति' स्पष्ट है क्योंकि शिव के रोमाञ्चित होने से पार्वती के प्रति उनका जो अनुराग उद्भिन्न है उसे हिमालय के हाथों की शीतलता के व्याज से छिपाया जा रहा है।

तुल्ययोगिता—

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।। ४७ ।
एकधर्मामिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।
अन्वेषामप्रस्तुतानाम् । धर्मो गुणकियारूपः ।

उदाहरण (दोप्रस्तुत पदार्थों में एक कियारूप धर्म के योग 'तुल्ययोगिता')

अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः ।

समयेन तेन सुचिरं शयित प्रतिबोधितस्मरमबोधिषत ||"

तुल्ययोगितावह अलङ्कार है जिसे केवल प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत पदार्थों का एक धर्म से अभिसम्बन्ध कहा गया है। यहाँ कारिका में 'अन्येषाम्' का अभिप्राय 'अप्रस्तुत' अथवा 'अप्राकरणिक' पदार्थोंका अभिप्राय है और 'धर्म' से गुण अथवा कियारूप धर्म अभिप्रेत है। उदाहरण-

'संध्याकाल ने, चन्दनादि के अङ्गरागों, फूलों, पत्तियों पर मान-को करने वाली अबलाओं और दीपकों की वत्तियों को इस प्रकार प्रतिबोधित किया जिसमें बहुत देरतक सोया हुआ काम जग उठा।'

तात्पर्य यह है कि यद्यपि अनुलेपन, पुष्प, मानवती अवलाओं और दीपशिखाओं के 'अवबोधन' में-स्वरूप-भेद अवश्य है क्योंकि अनुलेपनों का 'बोध' उनका 'स्म पुष्पों का 'बोध' उनका विकास, मानवती अबलाओं का 'बोध' उनके लिये मान छोड़ने की शिक्षा और दीपशिखाओं का 'बोध' उनका प्रज्वलित होना है किन्तु तब भी, तु की एकरूपता में, क्रियाओं की एकरूपता की कल्पना से, इन प्राकरणिक पदार्थों काएककियारूप धर्म से सम्बन्ध स्पष्ट है जिसमें 'तुल्ययोगिता' की शोभा झलक रही है।

4.6 रसवत, दीपक, अप्रस्तुतप्रशंसा

रसभावी तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदाऽलङ्कृतयस्तदा ।। ९५ ।।
रसवत् प्रेयऊर्जस्विसमाहितमिति क्रमात्।
तदाभासौ रसाभासो भावाभासश्च। तत्र रसयोगाद्रसवदलङ्कारो यथा 'अयं स रसनोत्कर्षी-' इत्यादि।

रसवत्, प्रेय', 'ऊर्जस्वि' और 'समाहित' वे अलङ्कार हैं जिन्हें क्रमशः 'रस', भाव , रसाभास-भावाभास' तथा 'भावप्रशमन' को अङ्गरूप से अवस्थान में देखा जाया करता है।

यहाँ कारिका में 'तदाभासी' का अभिप्राय 'रसाभास' और 'भावाभास'-दोनों का है। इन चारों में, 'रसवत्', जिसमें अङ्गरूप से अवस्थित रस रहा करता है, इस सूक्ति से स्पष्ट है।

'अयं स रशमोत्कर्थी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

रसवत्प्रेय ऊर्जस्विस माहितमिति क्रमात् ।तदाभास रसामासो भाषाभास । तत्र रसयोगाद्रसबदलङ्कारो यथा अयं सरसनोत्कर्षी-' इत्यादि।

'रस', 'भाव', रसाभास-भावाभास' तथा 'आवशम' को अङ्गरूप से अवस्थान में देखा जाया करता है। यहाँ कारिका में 'तदामासौ' का अभिप्राय 'रसाभास' और 'भावाभास'-दोनों का है। उदाहरण में श्रृंगार रस करुण रस के अंग के रूप में उल्लिखित है। उदाहरण देने वाले कवि के द्वारा यहां पर शृंगार रस की अभिव्यक्ति करुण रस के अंग के रूप में की जा रही है ,इसीलिए यहां पर रसवत अलंकार है।

दीपक अलंकार

अप्रस्तुत प्रस्तुतयो: दीपकं तु निगद्यते ।। ४८ ॥
अथकारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।

क्रमेणोदाहरणम्

'बलावलेपादधुनापि पूर्ववत
प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।।
'दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे
"भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा।
उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीय
मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन।'

'दीपक' वह अलङ्कार है जिसे प्रस्तुत (प्राकरणिक) और अप्रस्तुत में एक धर्म का अभिसंबन्ध कहा जाया करता है। साथ ही साथ अनेकक्रियाओं के साथ एक कारक का सम्बन्ध भी 'दीपक' ही है। क्रमशः उदाहरण -

'महापराक्रमी शिशुपाल, अपने बल के घमण्ड से, आज भी (इस जन्म में भी) संसार को पीडित कर रहा है। ठीक ही है क्योंकि सती स्त्री की भाँति मानव प्रकृति मी, जन्म-जन्मान्तर में मनुष्य का साथ दिया करती है।

यहाँ, 'शिशुपालवध' की इस सूक्ति में स्थिर मानव प्रकृति 'प्रस्तुत' और 'प्राकरगिक' है और सती स्त्री 'अप्रस्तुत' अथवा 'अप्राकरणिक', और इन दोनों में 'अनुगमन' रूपक्रिया का धर्म समान भाव से सम्बद्ध निर्दिष्ट किया हुआ है। 'तुम्हारे सरीखे प्रियतम के दूर चले जाने पर काम के बाणों से विद, वह बेचारी कभी उठती है, कभी लेटती है, कभी तुम्हारे निवासस्थान पर जाती है, कभी तुम्हारे निवासस्थान से लौटती है, कभी हँसती है और कभी-कभी आह भरा करती है।" 'यहाँ, इस स्वरचित सूक्ति में, एक नायिका का उत्थान-शयन आदि अनेक क्रियाओंसे संबन्ध वर्णित है। प्राचीन आलङ्कारिक गुण अथवा क्रियारूप धर्म के आदि, मध्य और अन्त में ने उपनिबद्ध किये जाने के कारण, 'दीपक' को, आदि, मध्य किंवा अन्य दीपक के रूप में भी कहते हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा—

कचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्त कार्य च हेतोरथ समात्समम् ॥ ५८ ॥

अस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा तवः।

अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्

उदाहरणम्

पादहित यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति। स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्वद्वरं रजः ॥
अत्रास्मदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेष प्रस्तुते सामान्यमभिहितम्।

अप्रस्तुतप्रशंसा वह अलंकार है जिसे अप्रस्तुत से प्रस्तुत की ऐसी अभि व्यञ्जना में देखा जाया करता है जिसकी ये पाँच सम्भावनायें हुआ करती है- अप्रस्तुरूप सामान्य से प्रस्तुतरूप विशेष को अभिव्यञ्जना, अप्रस्तुतरूप विशेष से प्रस्तुतरूप सामान्य की अभिव्यञ्जना, अप्रस्तुतरूप कार्य से प्रस्तुत रूप कारण की अनिष्पक्षना, अप्रस्तुतरूपण से प्रस्तुतरूप कार्य की अभिव्य और अप्रस्तुतरूप समान वस्तु से प्रस्तुतरूप समान वस्तु की अभिव्यञ्जना। इन पञ्चविध संभावनाओं के कारण प्रस्तुतशंसा भी पांच प्रकार की हुआ करती है। उदाहरण - अपमानित होने पर भी चुप बैठ जाने वाले मनुष्य में तो वह है जो पैरों तले रौंदी

जाने पर भी रौंदनेवाले के सिर पर जा बैठती है।' (शिप) यहाँको प्रस्तुत है वह यह विशेषरूप से अपन और किंकर्तव्यविमूढ रहने वाले हम लोगों की अपेक्षा है।

4.7 विभावना, विशेषोक्ति, तद्गुण

विभावना

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद्विधा सा परिकीर्तिता ॥ ६६ ॥

उक्त निमित्ता विभावना

अनायासकृशं मध्यमशङ्करले दशो ।
अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः ||
अत्र वयोरूपनिमित्तमुक्तम् । (अनुकनिमित्ता विभावना)
अत्रैव 'वपुर्भाति मृगीदृशः' इति पाठेऽनुक्तम् ।

विभावनावह अलङ्कार है जिसे कारण के अभाव में भी कार्य की का वर्णन कहा करते हैं। विभावनाके दो प्रकार है- जिसमें कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का निमित्त प्रतिपादित हो अर्थात् 'उक्तनिमित्ता' विभावना । और जिसमें कारणाभाव में कार्योत्पत्ति के निमित्त का प्रतिपादन न किया जाय । यह निश्चित है कि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो तो यह अवश्यम्भावी है।

'यौवन की अवस्था में इस सुन्दरी की कमर बिना आयास प्रयास के ही कृपा हो गई। है, इसकी आंखें बिना किसी आशंका के ही चञ्चलता से भर उठी हैं और इसकी देह ल किसी आभूषण के ही मनोहर लग रही है।'

यहाँ 'आयास', 'आशंका' और 'आभूषण' रूप प्रसिद्ध कारणों के अभाव में 'कृशता', 'तरलता' और 'मनोहरता'रूप कार्यों की उत्पत्ति वर्णित है और ऐसे व निमित्त भी प्रतिपादित हैं जो कि 'यौवन' रूप निमित्त है ।

'उपर्युक्त 'अनायास मध्यम्' आदि सूक्ति में ही 'वपुर्वयसि सुभुवः' के 'वपुर्भाति मृगीदृशः' कर देने से 'अनुक्त निमित्त' विभावना का लक्षण घटित हो । क्योंकि 'यौवन'रूप निमित्त के न रहने पर यहां की विभावना 'अनुक्त निमित्ता' हो जा सकती है ।

विशेषोक्ति—

सति हेती फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विया ।

विशेषोक्ति वह है जिसे कारण के सद्भाव में कार्य का अभाव वर्णन कहा जाया करता है। यह भी दो प्रकार की है-(1) उक्त निमित्ता' विशेषोकि और अनुक्तनिमित्ता ।

यहाँ कारिका में 'तथा' का अभिप्राय, निमित्त की उक्ति और अनुक्ति के कारण'विशेषोक्ति' के दो भेदों में विभक्त होने का अभिप्राय है।

धनिनोऽपि निरून्मादा युवानोऽपि न चंचलाः।
प्रभवोप्यसमस्तास्ते महामहिमशालिनः।।
'स एकत्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुषः हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ।।

वे लोग महामहिमशाली महापुरुष हैं जो धनी होने पर भी निरभिमान, युवा पर भी स्थिर बुद्धिवाले और प्रभुत्व रखने पर भी अप्रमत्त हुआ करते हैं। यहाँ 'धन', 'यौवन' और 'प्रभुत्व'रूप

कारण के सद्भाव में भी 'उन्माद', ' और 'अप्रमाद'रूप कार्य के अभाव का वर्णन है और इसके निमितरूप से महामहिमशालित्व' का भी प्रतिपादन है। जिसमें 'विशेषोक्ति' का 'उक्त निमित्ता' होना स्पष्ट है।

'वह कुसुमायुध (काम) ही ऐसा है जो अकेला होते हुये भी तीनों लोकों पर वि पाया करता है क्योंकि तभी तो उसके शरीर का विनाश करने पर भी उसके बल का विनाश भगवान् शङ्कर द्वारा न हो सका।"

तद्गुण अलङ्कार—

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।।
जगाद बदन पद्मपर्यन्त पातिनः ।
नयन् मधुलिहः श्वैत्यमुदप्रदशनांशुभिः ।।

तद्गुण वह अलङ्कार है जिसमें कोई वस्तु अपने गुण का परित्याग कर और अपने समीपस्थ उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु के गुण का ग्रहण करती निरूपित हुआ करती है।

जैसे कि- बलदेव जब बोले तब ऐसा लगा जैसे वे अपने मुखरूप कमल के चतुर्दिक उसके वाले भ्रमरों को अपनी उत्कट दन्त-कान्ति से शुक्लरूप बना रहे हो ।'

4.8 अतद्गुण, संकर, संसृष्टि, पर्याय

अतद्गुणालङ्कार—

तद्रूपाननुहारस्तु हेतौसत्यप्यतद्गुणः ।। १० ।।
हन्त ! सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम
गुणगौर ! निषण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि ।।'

वह अलङ्कार है जिसमें, कारण होने पर भी प्रकृत वस्तु, अप्रकृत वस्तु के गुण का अनुहार अथवा स्वीकार करती नहीं वर्णित होती। जैसे कि 'अरे प्रियतम ! मेरे हृदय में, जो कि प्रगाढ राग (प्रेम या छाटी) से भरा हुआ है, रहते हुए भी, तुम, कुछ ऐसे 'गुणगौर' अपने गुणों के कारण शुभ्र-रूप हो कि तुममें कोई राग संभव नहीं।

अथवा 'राजहंस शुभ्र वर्ण के गंगाजल और कजल वर्ण के यमुनाजल दोनों में स्नान किया करते हो किन्तु तुम्हारी शुभ्रता न बढ़ती है और न घटती है अपितु जैसी की तैसी ही रहा करती है।"

संसृष्टि सङ्कर—

अङ्कारों का परस्परसंमिश्रण-संसृष्टि ।
यथेत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः ।
तदा पृथगलङ्कारौ संसृष्टिः सङ्करस्तथा ।। ९७ ॥
'मिथोऽनपेक्ष मेतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।
एतेषां शब्दार्थालङ्काराणाम् ।
देवः पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः ।
संसारध्वान्त विध्वंसहंसः कंसनिषूदनः ॥

अलङ्कार ही, जिनका पृथक-पृथक् लक्षण निरूपण किया गया है,परस्पर संमिश्र रूप से भी काव्य-साहित्य में दिखाई दिया करते हैं और ऐसी अवस्थामें इन्हें पृथक् अलङ्कार माना जाया करता है। जो कि 'संसृष्टि' और 'सङ्कर' नाम से दोप्रकार का हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि जैसे लोकप्रसिद्ध अलङ्कार परस्पर मिले-जुले अर्थात् एक अङ्ग में निविष्ट होने पर एक

अतिरिक्त ही शोभा रखने के कारण, एक भिन्न प्रकार के अलङ्कार से प्रतीत हुआ करते हैं। वैसे ही उपर्युक्त सभी प्रसिद्ध अलङ्कार, परस्पर मिले-जुले रहने पर, एक और ही शोभा करते हैं और'संसृष्टि' तथा 'सङ्कर' नाम से पृथक् अलङ्कार के रूप में माने जाते हैं। इनमें'संसृष्टि' वह अलङ्कार-प्रकार है जिसे परस्परनिरपेक्ष अलङ्कारों की एकत्र अवस्थिति कहा करते हैं।

यहाँ (कारिका में) 'एतेषाम्' का अभिप्राय शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार और शब्दार्थालंकार अभिप्राय है। जैसे कि 'खिले नीलकमल सरीखे नेत्रोंवाले और संसाररूपी अन्धकार के विध्वंस के सूर्य, वे कंसनिषूदन भगवान् कृष्ण हमें सभी संकटों से बचाते रहें।' यहाँ कई एक अलंकार परस्पर संसृष्टि हैं।

पर्याय अलंकार—

क्वचिदकमनेकस्मिन्ननेकंचैकगं क्रमात्।
भवति क्रियते वा चेत्त्दा पर्याय इष्यते ।।

पर्याय वह अलङ्कार है जिसे एक वस्तु के अनेक में, अथवा अनेक वस्तुओं के एक में, क्रमशः 'अवस्थान' अथवा क्रमशः 'सम्पादन' के वर्णन में देखा जाया करता है।

उदाहरण -

वर्षा की पहली बूँदें, तपस्या में लगी गिरिराज कुमारी (पार्वती) पर जब गिरी त पहले, क्षण भर के लिये पलकों पर टिकीं, तदनन्तर अधरोष्ठ पर रुकीं, बाद में उन्नत उरोजों पर टकरायीं, फिर त्रिवली तक पहुंची और तब अन्त में नाभि तक पहुँच गयी है (कुमारसंभव) 'राजन् ! आपके शत्रु की राजधानी में, जहाँ पहले जघनभार से अहसार्थी विद्यासिनीरमणियाँ विहार किया करती थीं, यहाँ अब भेड़िये, कौए और गीदड़ दौड़ मचातेहै'।

4.9 सारांश

काव्यशास्त्र के विवेचन से संबंधित इस खंड की यह चौथी इकाई है जिसमें आचार्य विश्वनाथ के ग्रंथ साहित्य दर्पण में उल्लिखित कुछ अलंकारों के लक्षण और उनके उदाहरण सहित वर्णन का अध्ययन आपके समक्ष प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत साहित्य का संपूर्ण काव्य जगत अलंकारों के वर्णन से भरा पड़ा है काव्य के शरीर की चर्चा करते समय अनेक आचार्यों ने अलंकारों को प्रधान रूप से माना और यहां तक की यह भी कहा कि बिना अलंकारों के रस की अभिव्यक्ति किसी भी प्रकार से काव्य में संभव नहीं हो सकती। कुछ आचार्यों का मानना है की अलंकार काव्य में केवल शोभा बढ़ाने का ही काम करते हैं शोभा की सृष्टि नहीं कर सकते। इस क्रम में पूरी परंपरा में शब्द पर आधारित अलंकारों को शब्दालंकार कहा जाता है। जिनकी चर्चा अनेक आचार्यों ने अपने अपने ग्रंथों में की है।शब्दालंकार के भेद पर सभी आचार्यों में एकता का अभाव है। अनुप्रास अलंकार यमक अलंकार श्लेष अलंकार तो सभी आचार्यों को शब्द पर आधारित अलंकारों के वर्णन में ही मान्य है इसमें कोई दो राय नहीं। किंतु कहीं-कहीं इन से अधिक पर भी चर्चा हुई है। जयदेव से लेकर आचार्य मम्मट तक सभी इस प्रकार के मत से सहमत हैं। अर्थ पर आश्रित अलंकारों को अर्थालंकार कहा जाता है। उपमा अलंकार का वर्णन संस्कृत काव्यशास्त्र में सभी आचार्यों को अभीष्ट है। राजशेखर के मत में तो उपमा अलंकार सभी अलंकारों का शिरोमणि है । उपमा ही संपूर्ण कविवंश की माता है।अलंकार के प्रकारों का वर्णन करते समय भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की यात्रा करने पर पता चलता है कि सभी ने वहां की परिभाषा और उदाहरण लिखने के पश्चात इसके भेदों का वर्णन भी अपने अपने

ग्रंथों में किया है। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में भी उपमा के भेद सहित वर्णन किए। आचार्य मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में उपमा अलंकार का वर्णन उसके प्रकारों के साथ किया है। रूपक अलंकार की सभी आचार्यों को मान्य है। विभावना विशेषोक्ति आदि अलंकारों का वर्णन लगभग सभी आचार्यों ने प्रस्तुत किया है। कुछ ऐसे अलंकार जो इस इकाई में आप के अध्ययन के लिए प्रस्तुत किए गए हैं उनका वर्णन केवल विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में ही किया है। उन सभी अलंकारों का वर्णन संस्कृत काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने नहीं किया है।इकाई में लगभग 10 से अधिक अलंकारों के लक्षण और परिभाषा के साथ आचार्य विश्वनाथ के साहित्य दर्पण से सामग्री ग्रहण करके आप के अध्ययन के लिए प्रस्तुत की गई है। अलंकारों के लक्षण और परिभाषा से संबंधित इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप साहित्य दर्पण में उल्लिखित इन अलंकारों का लक्षण और उदाहरण बताने में सक्षम हो सकेंगे।

4.10 शब्दावली

गिरिराज कुमारी - पार्वती

4.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्य दर्पण - व्याख्याता डॉ सत्यव्रत सिंह, चौखंबा विद्याभवन वाराणसी प्रकाशन

2. ध्वन्यालोक संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित, आचार्य लोकमणि दहाल, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली

3.संस्कृत काव्य शास्त्र का इतिहास पी.वी. काणे, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली

4.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उपमा का लक्षण उदाहरण लिखिए।
2. साहित्यदर्पण के आधार पर शब्दालंकार का वर्णन कीजिए।
3. रूपक और दीपक अलंकार का वर्णन कीजिए
4. पर्याय तथा व्यजोक्ति का वर्णन कीजिए